।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

वैदिक-वाणी

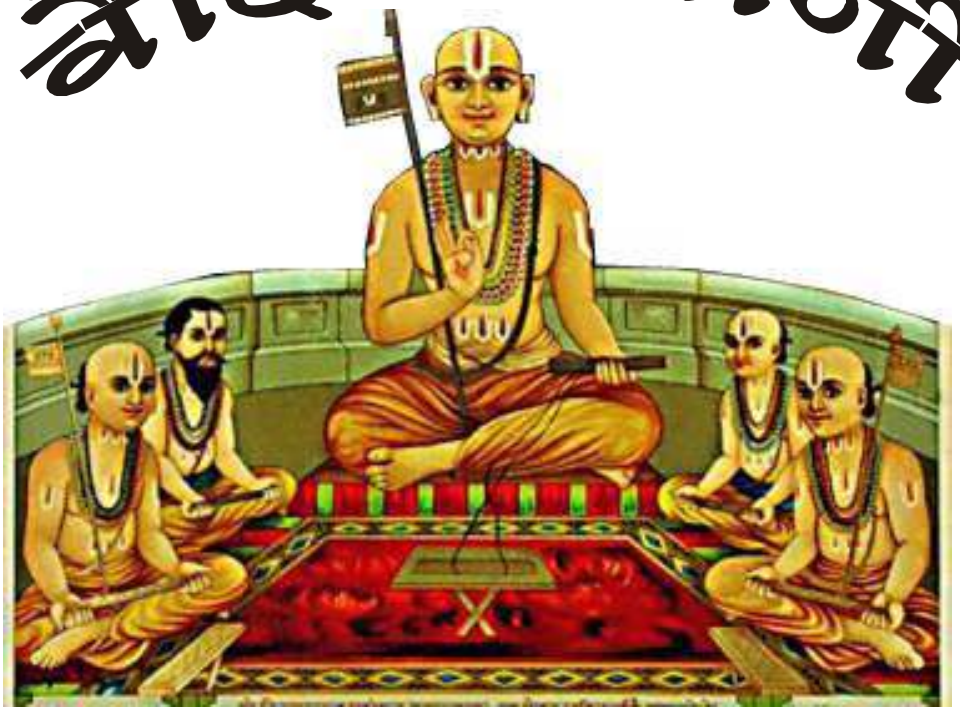

वर्ष- २६ जुलाई- २०१४	श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)	अङ्क- ४ रामानुजाब्द ९९६ त्रैमासिक प्रकाशन

अचित्यदिव्याद्भुतनित्ययौवनस्वभावलावण्य मयामृतोदधिम् ।
श्रियः श्रियं भक्तजनैकजीवितं समर्थमापत्सखमर्थिकल्पकम् ।।

अर्थात् आप अचिन्त्य हो, दिव्य हो, अद्भुत हो, नित्ययुवा हो, लावण्यमय सुधासागर हो, श्रीदेवी को भी शोभायमान करने वाले हो, भक्तों के एकमात्र आधार हो, सामर्थ्यवान हो, विपत्ति काल के मित्र हो और याचकों के लिये कल्पवृक्ष-स्वरूप हो ।।

विषयानुक्रमणिका

आश्रम परिवार की ओर से प्रकाशित

****

क्रम सं०	विषय	पृ०सं०
१.	तपस्या बड़ी है या सत्सङ्ग	१
२.	कर्मयोग की परम्परा	४
३.	तमोगुण पतन के कारण	६
४.	बालक स्वरूप यमराज का उपदेश	९
५.	दिव्यगुण सम्पन्न भक्त प्रह्लाद	१०
६.	विदेहनन्दिनी सीताजी	१२
७.	अन्यदेव के उपासना का फल	१४
८.	विधिपूर्वक जप करे	१५
९.	लाभ ले तुलसी की सेवा से	१७
१०.	भगवान के गुणों की दिव्यता	१८
११.	गीतार्थ-सङ्ग्रह	२१
१२.	श्रीविष्णुसहस्त्रनाम (३६-५५ नामों) की हिन्दी भाष्य	२३
१३.	तत्त्वमसि श्रुति का अर्थ	२५
१४.	धर्म के प्रतिमूर्ति गो की सेवा करे	२७
१५.	श्रीस्वामी रामानुजाचार्य जी के जीवन का कुछ अंश	२८
१६.	गुरु-पूर्णिमा, व्यास-पूर्णिमा	३०, ३२

नियमावली

१. यह पत्रिका त्रैमासिक प्रकाशित होगी।

२. इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा (अनुदान) ४० रुपये तथा आजीवन सदस्यता ५०१ रुपये मात्र हैं।

३. इस पत्रिका में भगवत् प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावपूर्ण लेख या कवितायें प्रकाशित हो सकेगी।

४. किसी प्रकार का पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते पर किया जा सकता है।

५. लेख आदि किसी भी प्रकार के संशोधन आदि का पूर्ण अधिकार सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

—सम्पादक

वैदिक-वाणी

तपस्या बड़ी है या सत्संग

एक बार बात ही बात में विश्वामित्र जी से वसिष्ठ जी का विवाद छिड़ गया कि तपस्या बड़ी है या सत्संग। वसिष्ठजी का कहना था कि सत्संग बड़ा है और विश्वामित्र जी का आग्रह था कि तपस्या बड़ी है। इस विवाद का निर्णय कराने के लिये अन्त में दोनों शेषभगवान के पास पहुँचे। सब बातें सुनकर शेषभगवान ने कहा-भाई अभी तो मेरे सिर पर पृथ्वी का भार है। आप दोनों में से कोई एक थोड़ी देर के लिए इसे ले ले तो मैं निर्णय कर सकता हूँ। विश्वामित्र अपनी तपस्या के घमंड में फूले हुए थे, उन्होंने दस हजार वर्ष की तपस्या के फल का सङ्कल्प किया और पृथ्वी को अपने सिर पर धारण करने की चेष्टा की। पृथ्वी काँपने लगी, सारे संसार में तहलका मच गया। तब वसिष्ठजी ने अपने सत्संग के आधे क्षण के फल का संकल्प करके पृथ्वी को धारण कर लिया और बहुत देर तक धारण किये रहे। अन्त में जब शेष भगवान फिर पृथ्वी को लेने लगे, तब विश्वामित्र बोले—अभी आपने निर्णय सुनाया ही नहीं। शेषभगवान हँस पड़े। उन्होंने कहा—निर्णय तो अपने आप हो गया। आधे क्षण के सत्संग की बराबरी हजारों वर्ष की तपस्या नहीं कर सकी। इस प्रकार महर्षि वसिष्ठजी का माहाम्य सब प्रकार से निखर उठने पर भी उनमें लेश मात्र अभिमान प्रविष्ट नहीं हो पाया था।

भागवत महापुराण के एकादश स्कन्ध के बारहवाँ अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने सत्सङ्ग की महिमा इस प्रकार बतलायी है।

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायतपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा।।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्।।

प्रिय उद्धव! जगत् में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वश में कर लेता है, वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त्त और दक्षिणा से भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँ तक कहूँ-व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यमनियम भी सत्सङ्ग के समान मुझे वश में करने में समर्थ नहीं है। निष्पाप उद्धव जी! यह एक युग की नहीं, सभी युगों की एक-सी बात है। सत्सङ्ग के द्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण गुह्यक और विद्याधरों को मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्यों में वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी तमोगुणी प्रकृति के बहुत से जीवों ने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, वाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रज की गोपियाँ, यज्ञपत्न्याँ और दूसरे लोग भी सत्सङ्ग के प्रभाव से ही मुझे प्राप्त कर सके हैं। उन लोगों ने न तो वेदों का स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्सङ्ग के प्रभाव से ही वे मुझे प्राप्त हो गये। गोपियाँ, गायें, यमलार्जुन आदि वृक्ष व्रज के हरिन आदि पशु, कालियनाग आदि ये तो साधन साध्य के सम्बन्ध में सर्वथा ही अनभिज्ञ थे। इतने ही नहीं

ऐसे-ऐसे और भी बहुत हुए हैं, जिन्होंने प्रेमपूर्ण भाव के द्वारा ही अनायास मेरी प्राप्ति कर ली और कृतकृत्य हो गये। उद्धव! बड़े-बड़े प्रयत्नशील साधक योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, श्रुतियों की व्याख्या, स्वाध्याय और संन्यास आदि साधनों के द्वारा मुझे नहीं प्राप्त कर सकते, परन्तु सत्सङ्ग के द्वारा तो मैं अत्यन्त सुलभ हो जाता हूँ। उद्धव! जिस समय अक्रूर जी बलरामजी के साथ मुझे व्रज से मथुरा ले आये, उस समय गोपियों का हृदय गाढ़ प्रेम के कारण मेरे अनुराग के रंग में रंगा हुआ था। मेरे वियोग की तीव्र व्याधि से वे व्याकुल हो रही थी और मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु उन्हें सुखकारक नहीं जान पड़ती थी। तुम जानते हो कि मैं ही उनका एकमात्र प्रियतम हूँ। जब मैं वृन्दावन में था, तब उन्होंने बहुत सी रात्रियाँ वे रास की रात्रियाँ मेरे साथ आधे क्षण के समान बिता दी थीं, परन्तु प्यारे उद्धव! मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिए एक-एक कल्प के समान हो गयीं। जैसे बड़े-बड़े ऋषि मुनि समाधि में स्थित होकर तथा गङ्गा आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्र में मिलकर अपने नाम-रूप खो देती हैं, वैसे ही वे गोपियाँ परम प्रेम के द्वारा मुझ में इतनी तन्मय हो गयी थीं कि उन्हें लोक परलोक, शरीर और अपने कहलाने वाले पति पुत्रादि की भी सुध-बुध नहीं रह गयी थी। उद्धव! उन गोपियों में बहुत सी तो ऐसी थी, जो मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं जानती थीं,। वे मुझे भगवान न जानकर केवल प्रियतम ही समझती थी और जार भाव से मुझसे मिलने की आकाङ्क्षा किया करती थी। उन साधनहीन सैकड़ों, हजारों अबलाओं ने केवल सङ्ग के प्रभाव से ही मुझ परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लिया। इसलिये उद्धव! तुम श्रुति-स्मृति, विधि निषेध, प्रवृति-निवृति और सुननेयोग्य तथा सुने हुए विषय का भी परित्याग करके सर्वत्र मेरी ही भावना करते हुए समस्त प्राणियों के आत्म स्वरूप मुझ एक की ही शरण सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करो, क्योंकि मेरी शरण में आ जाने से तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे।

●

कर्मयोग की परम्परा

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
सकालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।

युद्ध स्थल में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि कर्मयोग की परम्परा सृष्टि के आरम्भ से ही चली आ रही है। मन्वन्तर के आदि में अखिल जगत् के उद्धार के लिये मोक्ष साधन के रूप में मैने इस कर्मयोग का उपदेश विवस्वान् (सूर्यदेव) को किया था, विवस्वान् ने अपने पुत्र राजर्षि मनु को और राजर्षि मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को उपदेश किया। यह इक्ष्वाकु सूर्यवंश के प्रवर्तक थे। यह योग अव्यय अर्थात् अविनाशी है।

सूर्यवंश के राजर्षिगण गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा कर्मयोग की शिक्षा लेकर कई पीढ़ियों तक उसका पालन करते गये। उस समय कर्मयोग के रहस्य को समझने में सुगमता थी। जो राजा होकर वेद मन्त्रों के अर्थतत्त्व को जानते थे, वे राजर्षि कहलाते थे, कर्मयोग को समझने तथा पालन करने में वे ही प्रधान होते थे। उन्हीं राजर्षियों से अन्य लोग भी कर्म योग की शिक्षा ग्रहण करते थे। वैसे ही राजाओं में अश्वपति, जनक, अम्बरीष आदि हुए हैं। जब तक वह परम्परा चलती रही तब तक कर्मयोग का विशेष प्रचार रहा। सत्ययुग, त्रेता द्वापर आदि

युगों के अनुसार उत्तरोत्तर बुद्धि का ह्रास होता गया। साथ ही ज्यों-ज्यों लोगों में भोगों की आसक्ति बढ़ने लगी, त्यों-त्यों कर्म योग के अधिकारियों की संख्या घटने लगी। इस प्रकार ह्रास होते-होते अन्त में कर्म-योग की कल्याणमयी परम्परा प्राय: नष्ट हो गई।

स एवायं मया तेऽद्य योग: प्रोक्त: पुरातन:।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।

पुन: भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि तुम मेरा प्रिये भक्त और सखा हो, इसलिये मैंने उसी पुरातन (कर्म) योग को आज तुम से कह रहा हूँ, क्योंकि यह अत्युत्तम रहस्य है।

इसका अभिप्राय यह है कि इस पुरातन कर्म योग के रहस्य को वर्तमान समय में सर्वाङ्ग रूप से भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता है; क्योंकि यह वेदान्त-वर्णित अत्यन्त गोपनीय मर्मयुक्त विषय है। गुरुशिष्य परम्परानुसार से ही इसे कोई ग्रहण कर सकता है। चूँकि गुरु अधिकारी शिष्य के प्रति ही रहस्य का उद्घाटन करते हैं। अत: श्री कृष्ण ने अर्जुन को भक्त और मित्र जानकर उत्तमयोग (कर्मयोग) का उपदेश किया है। अर्जुन कर्मयोग की दीक्षा प्राप्त करने का अधिकारी है तथा कर्मयोग की साधना ही उसके लिये सुगम एवं समुचित है। भगवान ने अर्जुन को यह सङ्केत किया है कि भूत काल में अनेक प्रख्यात राजर्षि हुए हैं। जिन्होनें कर्मयोग का अवलम्बन करके सिद्धि प्राप्त कर ली है। अत एव तुझे भी उनका अनुशरण करके कर्मयोग का अवलम्बन करना चाहिये। भगवान श्रीकृष्ण श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता पर विशेष बल देते हैं, क्योंकि श्रद्धा और विश्वास से युक्त होकर ही शिष्य उपदेश ग्रहण के लिये सुपात्र होता है। अर्जुन श्रीकृष्ण का मित्र ही नहीं, बल्कि सच्चा भक्त भी है। श्रद्धा और भक्ति से युक्त शिष्य के ऊपर गुरु की वाणी का प्रभाव होता है। द्वितीय अध्याय में ***'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'*** यह कहकर अर्जुन ने अपने को एक प्रपन्न शिष्य के रूप में भगवान् के समक्ष उपस्थित किया है। महान् उपदेश के लिए सखा होना प्रयाप्त नहीं है; किन्तु उसे भक्त भी होना चाहिए। भक्त होने के कारण ही अर्जुन दिव्य उपदेश का अधिकारी बन सका। भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देकर इस योग को पुनरुज्जीवित कर दिया। भक्त की व्याकुलता भगवान् को व्याकुल कर उन्हें सोचने के लिये बाध्य कर देती है। युद्ध क्षेत्र में अर्जुन को अत्यन्त व्याकुल और शरणागत जानकर उसके शोक की निवृत्ति पूर्वक कल्याण की प्राप्ति कराने के लिए ही श्री कृष्ण ने कर्मयोग का उपदेश किया है। शरणागति के साथ-साथ अन्तस्थल की व्याकुलता भरी जिज्ञासा ही एक ऐसी साधना है जो मनुष्य को अधिकारी बना देती है। अर्जुन ने आज अपने अधिकार को समुचित सिद्ध कर दिया। उपदिष्ट योग सब प्रकार के दु:खों और बन्धनों से छुड़ाकर परमेश्वर को सुगमता पूर्वक प्राप्त करा देने वाला है। अत एव यह अत्यन्त ही उत्तम है।

अर्जुन ने भगवान से कहा कि आपका जन्म पीछे हुआ है और सूर्य का जन्म आपसे बहुत पहले हुआ है इसलिए मैं कैसे समझूँ कि आपने आदिकाल में इस योग का सूर्य के लिए उपदेश दिया था।

अर्थात् श्रीकृष्ण का जन्म जिस द्वापर में हुआ है उससे पूर्व सूर्य का जन्म हुआ था। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के समकालीन थे। इसीलिए उनके वचन पर अर्जुन को शङ्का हुई और उसने भगवान से पूछ दिया कि आपने यह योग सूर्य को बतलाया है इसे मैं कैसे मानूँ अर्थात् यह योग सूर्य को आपने कब बतलाया है।

राजसूय यज्ञ के अवसर पर भीष्म से सुना जा चुका है कि श्री कृष्ण ही समस्त लोकों की उत्पति, स्थिति और प्रलय के स्थान हैं, यह सारा जगत् श्री कृष्ण का शेष है। शिशुपाल वधादि के समय उनकी

अद्भुत शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव भी इसने किया था। जब अर्जुन यह जान रहा था कि वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं। वे वसुदेवनन्दन के रूप में नहीं, बल्कि नारायण के रूप में भी सूर्य को उपदेश दे सकते हैं और उसका स्मरण उन्हें इस समय हो सकता है, तब उसे भगवान के वचन पर शङ्का ही क्यों हुयी। अर्जुन भगवान श्रीकृष्णा को साक्षात् परमात्मा जानता था, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु जानते हुए भी अनजान की तरह जो पूछ रहा है उसका भाव यह है कि अनन्त कल्याण गुणों से युक्त समस्त हेय गुणों से रहित, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सम्पन्न भगवान का कर्मपरवश मनुष्यादि के सदृश प्रतीत होने वाला जो जन्म है वह क्या इन्द्रजालादि की तरह मिथ्या है? अथवा सत्य है? यदि सत्य है तो उस जन्म का प्रकार क्या है? उसका शरीर कैसा है? उसके जन्म में हेतु क्या है? तथा वह जन्म कब और किस उद्येश्य से होता है। इन सारी बातों का सन्तोषजनक समाधान लेने तथा श्रीकृष्ण के मुखारबिन्द से ही उनकी अलौकिकता का रहस्य सुनने के लिए ही अर्जुन का प्रश्न हुआ है।

●

तमोगुण पतन में कारण

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान रजसो लोभ एव च।
प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।

जगत् में सत्, रज और तम ये तीन गुण है, जिनमें सतोगुण का काम है ज्ञान और सुख को प्रकाशित करना। रजोगुण का काम है लोभ और तृष्णा को बढ़ा देना। तमोगुण विवेक हीनता, आलस्य और निद्रा इन तीनों दोषों में बाँधता है। किसी भी मानव में ये गुण आहार से ही विकसित होते हैं। इतिहास साक्षी है कि सात्त्विक आहार सेवन करने वाले विभीषण सदाचार एवं न्याय मार्ग पर चलते थे और दूसरे तरफ तामस आहार सेवन करने वाला रावण अन्याय और कदाचार का पथिक बना हुआ था।

सतोगुण प्रधान विभीषण ने रावण को न्याय एवं सदाचार के मार्ग पर लाने का अथक प्रयास किया था। रावण में वैदुष्य की कमी नहीं थी, परन्तु तामस आहार के कारण उसकी बुद्धि ठिकाने पर नहीं रही। विद्वान् होकर भी वह अपने आपको सदाचार के मार्ग पर ले चलने में असमर्थ हो गया। ऐसा क्यों नही होता? शरीर के संचालन में विवेक ही ब्रेक का काम करता है। कमजोर ब्रेक वाली गाड़ी से बराबर धोखा होता रहता है। उसी प्रकार तामस पदार्थ सेवन करने वाला रावण का विवेक कमजोर हो गया था। इसलिए वह अपने आपको सम्भाल नहीं पाता था। विभीषण ने रावण से कहा कि समस्त गुणों का समुद्र होकर भी लोभी कभी सुयश प्राप्त नही कर सकता। चौदहों भुवन का स्वामी होकर भी प्राणियों से द्रोह कर सत्ता में नहीं रह सकता।

जो कल्याण, सुयश, सुमति और शुभ-गति चाहता है उसे किसी दूसरे की नारी पर बुरी दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर–ये नरक के द्वार हैं। अत: हे भाई रावण! आप इन दुर्गुणों को त्यागकर महारानी सीता को भगवान् श्रीराम के चरणों में समर्पित कर दें। श्रीराम ईश्वरों के ईश्वर, देवताओं के देवता और काल के भी काल हैं। वे ब्रह्म, अज एवं भगवान् हैं। उन्हें कोई किसी भी प्रकार से जीत नहीं सकता। वे अनादि और अनन्त हैं। उनकी शरण में गये बिना कल्याण नहीं होता है। तमो गुण प्रधान रावण पर विभीषण

का प्रभाव नहीं पड़ा। उसने विभीषण को लात भी लगाई, परन्तु सतोगुण प्रधान विभीषण में क्रोध का लेश भी नहीं आया। उन्होंने जो भगवद् भक्त का कर्तव्य होता है उसे निभाया। भगवद् भक्त तिरस्कार सहकर भी अपमान करने वालों का कल्याण ही चाहते हैं। इसलिए विभीषण ने कहा—

तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहिमारा।
रामु भजे हित नाथ तुम्हारा।।

विभीषण की इस नम्रता को देखकर शंकर जी की भी प्रसंसात्मक वाणी निकल पड़ी—

उमा संत कह इहइ बड़ाई।
मंद करत जो करई भलाई।।

सात्विक विचार एवं व्यवहार का व्यक्ति जिस गाँव या घर में रहता है उस गाँव और घर वालों को खुशहाल रखता है। जिस गाँव या घर में तामसिक विचारधारा के लोग रहते हैं, वहाँ रहने वाले की स्थिति ठीक नहीं रहती।

विभीषण जब तक लङ्का में भगवद् भजन में संलग्न थे, तब तक लङ्का वासियों के घोर पाप करने पर भी उनकी आयु और सम्पदा बनी हुई थी। जब विभीषण ने लङ्का को त्याग दिया, उसी समय लङ्कावासियों की आयु और सम्पदा प्राय: नष्ट हो गई। लङ्का से प्रस्थान करने के पूर्व विभीषण ने स्पष्ट कह दिया—

रामु सत्यसंकल्प प्रभु, सभा कालबस तोरि।
मैं रघुवीर सरन अब, जाउँ देहु जनि खोरि।।

अत एव कवि को कहना पड़ा कि—

असकहि चला विभीषण जबहि।
आयुहीन भए सब तबही।।
रावण जबहि विभीषण त्यागा।
भयउ विभव बिनु तबहिं अभागा।।

सतो गुण प्रधान परमज्ञानी भक्त शिरोमणि पवनसुत हनुमान जी लङ्का में महारानी सीता से परिचय करने के बाद ब्रह्मास्त्र में बँधकर रावण के पास उपदेश देने के लिए ही गये थे। भगवद् भक्त कष्ट सहकर भी सांसारिक विषयी जीवों को भगवान् से मिला देना चाहते हैं। इसलिए श्री हनुमान जी में यह भाव जागृत हुआ कि तमोगुण प्रधान विषयी रावण अगर अपने दुर्गुणों को त्यागकर प्रभु के चरणों में समर्पित हो जाता है तो उसका कल्याण अवश्य हो जायेगा। अत एव उन्होंने कहा कि—

जाके डर अति काल डेराई।
जो सुर असुर चराचर खाई।।
तासों वयरु कवहुँ नहि कीजौ।
मोरे कहे जानकी दीजै।।

प्रनतपाल रघुनायक, करुणासिन्धुखरारि।
गएँ सरन प्रभु राखिहैं, सब अपराध विसारि।।

सांसारिक विषयी जीवों को विषय का लोभ देकर भी भगवद् सम्मुख किया जाता है। जैसे वेद विमुख जीवों को पुत्र धनादि का प्रलोभन देकर वैदिक कर्म में लगाया जाता है, उसी प्रकार आञ्जनेय जी रावण को लङ्का के राज्य का प्रलोभन देकर श्रीराम की ओर आकर्षित करना चाहते हैं—

राम चरण पङ्कज उर धरहू।
लङ्का अचल राजु तुम्ह करहू।।

अगर जीव लोभ से भी भगवान् की ओर नही आना चाहता तो उसे भय देकर भी सन्त लोग भगवान की ओर लगाना चाहते हैं। अत एव हनुमान जी ने रावण से कहा—

सुनु दसकन्ठ कहाँ पन रोपी।
विमुख राम त्राता नहीं कोपी।।

मोहमूल बहुसूल प्रद त्यागहूँ तम अभिमान।
भजहुराम रघुनायक, कृपासिन्धु भगवान्।।

परन्तु हुनमान जैसे सच्चे गुरु का वचन भी

रावण को प्रिये नहीं लगा। तमोगुण ने श्रीहनुमानजी के वचनों का प्रभाव रावण पर नहीं पड़ने दिया बल्कि उसे विपरीत रूप समझकर रावण ने कहा—

बोला बिहसि महा अभिमानि।
मिला हमहि कपि गुरु बड़ग्यानी।।

इसी प्रकार महारानी जानकी एवं अंगद आदि के वचनों का भी रावण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसका परिणाम हुआ कि रावण पुत्र, पौत्र, मन्त्री एवं लङ्कावासियों के साथ सदा के लिए कालकवलित हो गया। इससे सिद्ध है कि तामस आहार सेवन करने वाले व्यक्तियों के ऊपर माता-पिता गुरु एवं सुहृद्जनों के हितकर वचनों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। जिसका प्रत्यक्ष रूप सवों को देखने को मिल रहे हैं, अत: जो मानव अपने विवेक से काम लेना चाहता हो उसे कभी तामस पदार्थो का सेवन नहीं करना चाहिए।

शरीर में सब इन्द्रियों कि चेष्टा का हेतुभूत जो महाप्राण है। वह प्रधान होने पर भी बोलने या सुनने वाला नहीं है, क्योंकि वह जड़ है। देह और इन्द्रियों के द्वारा सब पदार्थों का द्रष्टा जो आत्मा है वह शरीर और प्राण दोनों से पृथक् है। यद्यपि वह परिच्छिन्न नहीं है, व्यापक है—फिर पञ्चभूत, इन्द्रिय और मन से युक्त नीचे-ऊँचे (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरों को ग्रहण करता और अपने विवेक बल से युक्त भी हो जाता है। वास्तव में वह इन सबसे अलग है, जब तक वह पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन इन सत्रह तत्त्वों से बने हुए लिङ्ग शरीर युक्त रहता है। तभी तक कर्मो से बन्धा रहता है और इस बन्धन के कारण ही माया से होने वाले मोह और क्लेश बराबर उन सब के पीछे पड़े रहते हैं।

प्रकृति के गुणों और उनसे बनी हुई वस्तुओं को सत्य समझना अथवा कहना झूठमूठ का दुराग्रह है। मनोरथ से समय को कल्पित और स्वप्न के समय की दीख पड़ने वाली वस्तुओं के समान इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह सब मिथ्या है। इसलिए शरीर और आत्मा का तत्त्व जानने वाले पुरुष न तो अनित्य शरीर के लिए शोक करते हैं और न नित्य आत्मा के लिए ही, परन्तु ज्ञान की दृढ़ता न होने के कारण जो लोग शोक करते रहते हैं। उनका स्वभाव बदलना बहुत कठिन है।

●

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ।। (वैराग्य-शतक)

अर्थात् इस अनादि संसार चक्र में, फल के निमित्त किये गये कर्मो में मुझे कोई कल्याण नहीं दिखाई दे रहा है। पुण्य कर्मों आदि के फल भी अनित्य होने के कारण मेरे मन में भय का ही सञ्चार करते हैं। विषयासक्त लोगों के जीवन में महापुण्य द्वारा सञ्चित दीर्घ-काल-व्यापी सुखभोग भी इतनी तीव्र गति से बढ़ते हैं कि अन्तत: वे अशेष दु:ख का ही कारण बनते हैं॥

●

बालक स्वरूप यमराज का उपदेश

भगवान वराह द्वारा हिरण्याक्ष की मृत्यु के बाद शोक सन्तप्त उनके परिवारों से हिरण्यकश्यपु ने कहा कि कहीं विशेष स्थल में लोग इकट्ठे हो जाते हैं, परन्तु उनका मिलना-जुलना थोड़ी देर के लिए ही होता है, वैसे ही अपने कर्मों के फेर से दैववश जीव भी मिलते और विछुड़ते हैं। वास्तव में आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सर्वगत, सर्वज्ञ और देह, इन्द्रिय आदि से पृथक् है। वह अपनी अविद्या से ही देह आदि की सृष्टि करके भोगों के साधन सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करता है। जैसे हिलते हुए पानी के साथ उसमें प्रतिबिम्बित होने वाले वृक्ष भी हिलते हुए से जान पड़ते हैं और घुमायी जाती हुई आँखों के साथ सारी पृथ्वी भी घूमती हुयी-सी दिखायी देती है; कल्याणि! वैसे ही विषयों के कारण मन भटकने लगता है और वास्तव में विर्विकार होने पर भी उसी के समान आत्मा भी भटकता हुआ सा जान पड़ता है। उसका स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, फिर भी वह सम्बन्धी-सा जान पड़ता है। सब प्रकार से शरीर रहित आत्मा को शरीर समझ लेना यही तो अज्ञान है। इसी से प्रिये अथवा अप्रिय वस्तुओं का मिलना और बिछुड़ना होता है। इसी से कर्मों के साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण संसार में भटकना पड़ता है।

जन्म, मृत्यु अनेक प्रकार के शोक, अविवेक, चिन्ता और विवेकों की विस्मृति सबका कारण यह अज्ञान ही है। इस विषय में एक प्राचीन इतिहास है। वह इतिहास मरे हुए मनुष्य के सम्बन्धियों के साथ यमराज की बातचीत है। तुम लोग ध्यान से सुनो।

उशीनर देश में एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका नाम था सुयज्ञ। लड़ाई में शत्रुओं ने उसे मार डाला। उस समय उसके भाई-बन्धु उसे घेर कर बैठ गये। रानियों को दैववश अपने पतिदेव उशीनर नरेश की यह दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ। वे हा नाथ! हम अभागिने तो वे मौत मारी गयीं। यों कहकर बार-बार जोर से छाती पीटती हुई अपने स्वामी के चरणों के पास गिर पड़ी। उनके केश और गहने इधर-उधर विखर गये, वे करुण-क्रन्दन के साथ विलाप कर रहीं थीं, जिसे सुनकर मनुष्यों के हृदय में शोक का सञ्चार हो जाता था। हाय! विधाता बड़ा क्रूर है। स्वामिन्! उसी ने आज आपको हमारी आँखों से ओझल कर दिया। पहले तो आप समस्त देशवासियों के जीवन दाता थे। आज उसी ने आपको ऐसा बना दिया कि आप हमारा शोक बढ़ा रहे हैं। पतिदेव! आप हमसे बड़ा प्रेम करते थे, हमारी थोड़ी-सी सेवा की बड़ी करके मानते थे। हाय! अब आपके बिना हम कैसे रह सकेंगी। हम आपके चरणों की चेरी हैं। वीरवर!आप जहाँ जा रहे हैं, वहीं चलने को हमें भी आज्ञा दीजिए। वे अपनी पति की लाश पकड़कर उसी प्रकार विलाप करती रहीं।

उस मुर्दे को वहाँ से दाह के लिए जाने देने की उनकी इच्छा नहीं होती थी। इतने में ही सूर्यास्त हो गया। उस समय उशीनर राज के सम्बन्धियों ने जो विलाप किया था, उसे सुनकर वहाँ स्वयं यमराज बालक के वेश में आये और उन्होंने उन लोगों से कहा।

यमराज बोले—बड़े आश्यर्च की बात है, ये तो मुझसे सयाने हैं। बराबर लोगों का मरना जीना देखते रहे हैं, फिर भी इतने मूढ़ हो रहे हैं। अरे! यह मनुष्य जहाँ से आया था, वहीं चला गया। इन लोगों को एक न एक दिन वहीं जाना है, फिर झूठमूठ ये लोग इतना शोक क्यों करते हैं? हम तो तुम से लाख गुने अच्छे हैं। परम धन्य हैं; क्योंकि

हमारे माँ-बाप ने हमें छोड़ दिया है और हमारे शरीर में पर्याप्त बल भी नहीं है, फिर भी हमें कोई चिन्ता नहीं। भेड़िये आदि हिंसक जन्तु हमारा बाल भी वांका नहीं कर पाते हैं। जिसने गर्भ में रक्षा की थी, वही इस जीवन में भी हमारी रक्षा करता रहता है। देवियो! जो अविनाशी ईश्वर अपनी इच्छा से इस जगत् को बनाता हैं, रखता हैं और बिगाड़ देता है, उस प्रभु का यह एक खिलौना मात्र है। वह इस चराचर जगत् को दण्ड या पुरस्कार देने में समर्थ है। भाग्य अनुकूल हो तो रास्ते में गिरी हुई वस्तु ज्यों की त्यों पड़ी रहती है; परन्तु भाग्य के प्रतिकूल होने पर घर के भीतर तिजोरी में रखी हुई वस्तु भी खो जाती है। जीव बिना किसी सहारे के दैव की दया दृष्टि से जंगल में भी बहुत दिनों तक जीवित रहता है; परन्तु दैव के विपरीत होने पर घर में सुरक्षित रहने पर भी मर जाता है।

रानियो! सभी प्राणियों की मृत्यु अपने पूर्व जन्मों की कर्म वासना के अनुसार समय पर होती है और उसी के अनुसार उनका जन्म भी होता है; परन्तु आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न है, इसलिए वह उसमें रहने पर भी उसके जन्म-मृत्यु आदि धर्मों से अछूता ही रहता है, जैसे मनुष्य अपने मकान को अपने से अलग और मिट्टी का समझता है वैसे ही यह शरीर भी अलग और मिट्टी का है। मोहवश वह इसे अपना समझ बैठता है । जैसे बुलबुले आदि पानी के विकार घर आदि मिट्टी के विकार और गहने आदि स्वर्ण के विकार समय पर बनते हैं, रूपान्तरित होते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन्हीं तीनों विकार से बना हुआ यह शरीर भी समय पर बन बिगड़ जाता है। जैसे–काठ में रहने वाली व्यापक अग्नि स्पष्ट ही उससे अलग है, जैसे देह में रहने पर भी वायु का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे आकाश सब जगह एक सा रहने पर भी किसी दोष-गुण से लिप्त नहीं होता वैसे ही समस्त देहेन्द्रियों में रहने वाला और उनका आश्रय आत्मा भी उनसे अलग और निर्लिप्त है।

मूखों! जिसके लिए तुम सब शोक कर रहे हो वह सुयज्ञ नामक व्यक्ति तो तुम्हारे सामने पड़ा है। तुम लोग इसी को देखते थे, इसमें जो सुनने वाला और बोलने वाला था, वह तो कभी किसी को दिखाई नहीं पड़ता था, फिर आज भी नहीं दिखाई दे रहा है, तो शोक क्यों? (तुम्हारी यह मान्यता है कि सुषुप्ति के समय प्राण तो रहता है पर न वह बोलता न सुनता है।)।

दिव्यगुण सम्पन्न भक्त प्रह्लाद

हिरण्यकश्यपु के चार पुत्र थे। उनमें प्रह्लाद सबसे छोटे थे, परन्तु गुणों में सबसे बड़े थे। वे बड़े संत सेवी थे। ब्राह्मण भक्त, सौम्यस्वभाव, सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय थे तथा समस्त प्राणियों के साथ अपने ही समान समता का बर्ताव करते और सबके एक मात्र प्रिये और सच्चे हितैषी थे। बड़े लोंगो के चरणों में सेवक की तरह झुककर रहते थे। गरीबों पर पिता के समान स्नेह रखते थे। बराबरी वालों से भाई के समान व्यवहार करते और गुरुजनों में भगवत् भाव रखते थे। विद्या, धन, सौन्दर्य और कुलीनता से सम्पन्न होने पर भी उनमें घमंड नहीं था। बड़े-बड़े दु:खों में भी वे नहीं घबराते थे। लोक एवं स्वर्ग के विषयों को उन्होंने सुना तो बहुत था। परन्तु वे उन्हें निसार और असत्य समझते थे। इसलिए उनके मन में किसी वस्तु की लालसा न थी। इन्द्रिय, प्राण शरीर और मन उनके वश में थे।

उनके चित में कभी किसी प्रकार की कामना नहीं होती थी। जन्म से असुर होने पर भी उनमें आसुरी सम्पती का लेश भी नहीं था। जैसे भगवान् के गुण अनन्त हैं, वैसे ही प्रह्लाद के श्रेष्ठ गुणों की भी कोई सीमा नहीं है। महात्मा लोग सदा से उनका वर्णन करते और उन्हें ही अपनाते आये हैं। यों तो देवता उनके शत्रु हैं, परन्तु फिर भी भक्तों का चरित्र सुनने के लिए जब उन लोगों की सभा होती है, तब वे दूसरे भक्तों को प्रह्लाद के समान कहकर उनके सम्मान करते हैं।

वे आज भी ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। उनकी महिमा का वर्णन करने के लिये अगणित गुणों के कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं। केवल एक ही गुण भगवान् श्री कृष्ण के चरणों में स्वाभाविक, जन्मजात प्रेम उनकी महिमा को प्रकट करने के लिए प्रयाप्त है।

गुणै रलमसंरुयेयै माहात्म्यं तस्य सूच्यते।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकीरतिः।।

प्रह्लाद बचपन में ही खेल-कूद छोड़कर भगवान के ध्यान में जडवत् तन्मय हो जाया करते थे भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह रूप ग्रह में उनके हृदय को इस प्रकार खींच लिया था, कि उन्हें जगत् की कुछ सुध-बुध ही न रहती थी। उन्हें ऐसा जान पड़ता था कि भगवान् मुझे अपनी गोद में लेकर आलिङ्गन कर रहे हैं। इसलिये उन्हें सेतिजगति, खाते-पीते चलते-फिरते और बातचित करते समय भी इन बातों का ध्यान बिलकुल न रहता था। कभी-कभी भगवान् मुझे छोड़ कर चले गये, इस भावना में उनका हृदय इतना उद्विग्न हो जाता कि वे जोर-जोर से रोने लगते थे। कभी मन ही मन उन्हें अपने सामने पाकर आनन्दोद्रेक से ठठाकर हँसने लगते थे। कभी उनके ध्यान के मधुर आनन्द का अनुभव करके जोर से गाने लगते थे, वे कभी उत्सुक हो बेसुरा बिल्लाप करने लगते थे।

कभी-कभी लोक लज्जा का त्याग करके प्रेम में छक्कर नाचने भी लगते। कभी-कभी उनकी लीला के चिन्तन में इतने तल्लीन हो जाते कि उन्हें अपनी याद नहीं रहती और उन्हीं का अनुकरण करने लगते। कभी भीतर ही-भीतर भगवान का कोमल संस्पर्श अनुभव करके आनन्द में मग्न हो जाते और चुपचाप शान्त होकर बैठ जाते, उस समय उनका रोम-रोम पुलकित हो उठता। अधखुले नेत्र अविचल प्रेम और आनन्द के आश्रुओं से भरे रहते। भगवान् श्रीकृष्ण के चरण कमलों की यह भक्ति अकिञ्चन भगवत्प्रेमी महात्माओं के सङ्ग से ही प्राप्त होती है।

भगवत्प्राप्ति के साधन स्वरूप और ब्रह्म प्राप्त होने पर जो परमानन्द स्वरूप है उसका ज्ञान नारदजी ने करा दिया था। उन्होंने उपदेश किया कयाधु को परन्तु उससे प्रभावित हुआ गर्भस्थ शिशु। वे माँ के गर्भ में ही समस्त भागवत धर्म के रहस्यों को समझ लिये थे।

प्रह्लाद नारद पराशर पुण्डरीक
त्याम्बरीष शुक शौनक भीष्मदालभ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुन वसिष्ठ विभीषनादिन
पुण्याभिमान् परम भागवतान् स्मरामि।।

अत एव इन स्मरणीय भागवतों में प्रह्लाद का नाम प्रथम आया है।

पूज्यपाद गोस्वामी जी ने श्रीप्रह्लाद जी को भक्तों में शिरोमणि कहा है– ***'भक्तशिरोमणि मे प्रह्लादु'।***

विदेहनन्दिनी सीताजी

इस भूतल पर भगवान जब श्रीराम, कृष्ण आदि मानव रूप में अवतार लेते हैं तब श्रीदेवी मानुषी (सीता, रुक्मिणी आदि) रूप में आती हैं— ***'राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्ण जन्मनि।।'*** श्री देवी महालक्ष्मी जी हैं। इसलिए ब्रह्म ने युद्ध काण्ड में रावण-वध के बाद भगवान श्रीराम से कहा— ***'सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुः'*** सीता जी श्रीदेवी के अवतार हैं।

श्री शब्द तीन धातु से बनता है ''श्रु'' श्रवणे धातु से सम्पन्न श्री शब्द का अर्थ है–जो जीवों की आर्त पुकार को सुनती है और भगवान श्रीराम को सुनाती हैं। ''श्रिञ्'' सेवायाम् धातु से सम्पन्न श्री शब्द से यह अर्थ प्रकट होता है कि सीता जी स्वयं भगवान् श्रीराम की सेवा करती हैं और जीवों से सेवा कराती हैं। ''शृ'' हिंसायाम्-धातु से सम्पन्न श्री शब्द से यह अर्थ बोध होता है कि सीता जी स्वयं जीवों के अपराध को नाश करती हैं और भगवान् श्रीराम से नाश कराती हैं।

जगत् में स्थावर-जङ्गम और नीच-ऊँच भाव की सृष्टि में लक्ष्मी जी का कटाक्ष ही कारण है। स्थावर में कल्पवृक्ष से लेकर बबूल आदि का भेद, जङ्गम में ब्रह्मा से कीटाणु आदि का भेद भी लक्ष्मी जी के कृपा कटाक्ष से होता है। सृष्टि के तारतम्य देखने या सुनने में जो भी आते हैं उनका नियामक लक्ष्मी ही हैं। भगवान जगत् की रचना लक्ष्मी के मुखारबिन्द को देखकर करते हैं। लक्ष्मी के बिना भगवान की लीला में सरसता नहीं आती है। जब भगवान विष्णु श्रीराम रूप में अवतरीत हुए, तब लक्ष्मी जी सीता रूप में अवतरीत होकर श्रीराम की लीला को सरस बनायी हैं। सीता के बिना श्रीराम की लीला में रस नहीं रह जाता है। इसलिए रामायण सीता चरित्र प्रधान है— ***'काण्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाः चरितं महत्'।*** दक्षिण भारत के महान सन्त श्री लोकाचार्य ने श्रीवचनभूषण में कहा है कि ***'इतिहास श्रेष्ठेन श्रीमद्रामायणेन कारागृह वास कर्त्र्याः वैभव उच्यते?'*** अर्थात् रामायण में लङ्का रूपी कारागार में वास करने वाली सीता का वैभव कहा गया हैं। नित्य हृदय में धारण करने योग्य भार्या सीता, श्रीराम के प्राण के समान थी। सीता जी श्रीराम के हित में सदा तत्पर रहने वाली थी।

अत एव वाल्मीकि ने 'रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राण समाहिता'। ऐसा लिखा है। श्रीराम के हित में तत्पर रहने वाली अथवा चेतनों को हित करने वाली। सीता जी श्रीराम के साथ रहकर जीवों की शरणागति में पुरुषकार बनती हैं। लक्ष्मी के पुरुषकार बिना भगवान जीवों की शरणागति को स्वीकार नहीं करते हैं।

जनक एक ज्ञानी राजा थे। उनके कुल की आचार परम्परा उत्तम थी। अतः सीता जी आचार-प्रधान नारी थीं। उसे नारद ने ''देवमायेव निर्मिता'' कहा है। उसका अर्थ है कि अमृत मंथन के बाद असुरों को मोहित करने के लिए श्रीविष्णु ने एक मोहिनी रूप धारण किया था।, उसी तरह अतिसुन्दरी सीता जीवों के कल्याण के लिए अपनी ओर आकृष्ट करने वाली हैं। दूसरा अर्थ है कि विष्णु की आश्चर्य शक्ति स्वरूपा सीता हैं। अर्थात् सीता का सौन्दर्य सर्वाधिक है। अथवा ''देवमायेव निर्मिता'' में देव शब्द विष्णु का वाचक है और माया शब्द का लक्ष्मी अर्थ है। ***'देवमायेव निर्मिता'*** का अर्थ

हुआ विष्णु के लक्ष्मी स्वरूपा सीता जी हैं।

सीता को महर्षि ने सर्वलक्षण सम्पन्न कहा है, इसका अर्थ है कि सीता जी सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार उत्तम स्त्री के सभी लक्षणों से सम्पन्न थीं। ***'सर्व लक्षण सम्पन्न नारीणामुत्तमावधूः'।*** अतः सब स्त्रियों में श्रेष्ठ सीता जी कही गयी हैं। जीवों की शरणागति में पुरुषकार बनने वाली सीता जी में तीन गुण प्रधान है—कृपा, पारतन्त्र्य और अनन्य-शेषत्व। भगवान श्रीराम से सीता का तीन बार वियोग हुआ है।

प्रथम वियोग में लङ्का गयीं। वहाँ उनके कृपागुण का प्राकट्य हुआ है। सीता जी संश्लेष (संयोग) और विश्लेष (वियोग)–दोनों दशा में जीवों की शरणागति में पुरुषकार बनती हैं। संश्लेष दशा में भगवान को वश में कर शरणागति को सफल बनाती हैं और विश्लेष दशा में चेतन को वश में करके शरणागति में पुरुषकार होती हैं। श्रीराम के साथ रहकर श्रीलक्ष्मण और जयन्त की शरणागति में सीता जी पुरुषकार बनी हैं। उससे दोनों की शरणागति सफल हुई है। लक्ष्मण जी श्रीराम की सेवा के लिए वन में गये और जयन्त की जान बची। श्रीराम के विश्लेष दशा में सीता जी रावण को अनुकूल बनाने का प्रयास कर चुकी हैं। उन्होंने रावण से कहा कि लगता है कि लङ्का में सन्त नहीं रहते हैं अथवा तुम उनका अनुशरण नहीं करते हो, जिससे तुम्हारी बुद्धि विपरीत एवम् आचार-शून्य हो गयी है।

इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे।
यथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता।।

(वा०रा०)

रावणवध के बाद लङ्का में श्रीहनुमान जी उनके दृष्ट उपद्रव से उत्तेजित होकर राक्षसियों को वध करने के लिए उद्यत हो गये थे। उस समय जनकनन्दिनी ने यह कहकर क्षमा करा दिया कि संसार में कोई भी पुरुष अपराध से वञ्चित नहीं है—

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारुण्यभार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।।

(वा०रा०)

अतः पापी हो या पुण्यात्मा उसे वध के योग्य होने पर भी उनके ऊपर श्रेष्ठ पुरुष को दया करनी चाहिये।

द्वितीयवार गर्भावस्था में सीता जी वन में गयीं। उस प्रसङ्ग से सीता में श्रीराम के प्रति पारतन्त्र्यगुण प्रकट हुआ है। श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण जी गङ्गा पार करके वाल्मीकि आश्रम के पास सीता को छोड़ दिये। उस समय सीता जी ने कहा कि अगर मेरे कारण मेरे पति का अपयश हो रहा हो तो मुझे उनसे अलग रहना भी स्वीकार है। प्राण की वाजी लगाकर भी पति को प्रिय करना चाहिए।

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः।
प्राणैरपि प्रियं तस्मात् भर्तुः कार्यं विशेषतः।।

(वा०रा०)

तृतीय बार वाल्मीकि के आश्रम से अयोध्या आने पर पृथ्वी में यह कहकर प्रवेश कर गयी हैं कि यदि मैं श्रीराम को छोड़कर कभी भी अन्यत्र मन नहीं ले गई हूँ तो हे पृथ्वी देवि! अपा मुझे अपनी गोद में स्थान दें। इस प्रसङ्ग से श्रीराम के प्रति सीता में अनन्य शेषत्वगुण प्रकट हुआ है—

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिंतये।
तथा मे माधवि देवि विवरं दातुमर्हति।।

(वा०रा०)

अन्य देव के उपासना का फल

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।

विषयी पुरुष अपनी पूर्व वासना से नियन्त्रित रहते हैं जिससे उनकी स्त्री, पुत्र, धन आदि अनेक सांसारिक फलों की ही चाह होती है। वे समझते हैं कि संसार के फलों को शीघ्र देने वाले इन्द्रादि देवगण हैं। भगवान् तो विलम्ब से फल देते हैं। अत एव वे भगवत्स्वरूप के ज्ञान से वञ्चित हो जाते हैं और अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए अन्य देवों के पास जाते हैं। जिस-जिस देवता के पूजन के जो-जो नियम है, उन-उन नियमों के अनुसार उन-उन देवों का पूजन करते हैं। इस तरह पूर्व वासना के अनुसार विषयी पुरुषों की प्रीति अन्य देवों में ही होती है।

यद्यपि भगवान् अन्तर्यामी रूप से सभी देवताओं के अन्दरवास करते हैं। इसलिए सब देवता उनके शरीर हैं, परन्तु लौकिक फल की प्राप्ति के लिए जो लोग इन्द्रादि देवों की उपासना करते हैं वे लोग भगवान के शरीर के रूप में उन देवों को नहीं समझते हैं, फिर भी भगवान उन देवोपासकों को उन्हीं देवों में अचल श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं।

समस्त देवता भगवान के शरीर हैं। सब उनके अधीन रहने वाले हैं। भगवान ने ही उन इन्द्रादि देवों को पुण्य-कर्म के अनुसार देव पदों पर बैठाया है किस देवता का पूजन करने पर कैसा फल और कितना फल देवताओं के द्वारा मिल सकता है? यह भगवान् के द्वारा ही निश्चत किया गया है।

जो भगवान को छोड़कर अन्य देवों का पूजन करते हैं, वे मन्द बुद्धि वाले हैं, क्योंकि अन्य देवों से धन, पुत्र आदि लौकिक तथा स्वर्गीय नश्वर फल ही प्राप्त होते हैं। उनमें अनन्त और अक्षय फल देने की सामर्थ्य नहीं है। इन्द्रादि अधिक से अधिक अपना लोक दे सकते हैं। जैसे पृथ्वी के एक क्षुद्रभाग पर राज्य करने वाला राजा समस्त भूमण्डल का राज्य नहीं दे सकता है। समस्त भू-मण्डल का राज्य वही दे सकता है, जिसे उस पर अधिकार है। उसी प्रकार देवताओं का वैकुण्ठ पर जब अधिकार ही नहीं है, तब वे लोग वैकुण्ठ कैसे दे सकते हैं? देवों को तो अभी तक वैकुण्ठ का सुख मिला ही नहीं है। देवगण परिमित भोगवाले एवं सीमित काल तक रहने वाले हैं। इसलिए इन्द्रादि देवों के लोक में गये हुए पुरुष भी थोड़ा और नश्वर फल प्राप्त करते हैं इसलिए शास्त्रों में कहा गया है भगवान वासुदेव को छोड़कर अन्य देव की उपासना करने वाला व्यक्ति वैसा ही है जैसा गंगा के तीर पर रहने वाला प्यासा मानव पाप-ताप नाश तथा प्यास को शान्त करने वाला सुलभ गंगा जल को न पीकर अपनी प्यास मिटाने के लिए कूप खनता है।

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यं देवमुपासते।
तृषितो जाहन्वी तीरे कूपं खनति दुर्मतिः।।

जो फलासक्ति त्याग पूर्वक केवल भगवान का पूजन करते हैं वे भगवल्लोक वैकुण्ठ में वास करते हैं। वहाँ का सुख अविनाशी और अनन्त है। वहाँ गये हुए जीव संसार में नहीं लौटते हैं। अतः जो मानव बुद्धिमान हैं, वे एक मात्र भगवान का ही पूजन करते हैं। अत एव किसी अन्य देवोपासक की मृत्यु के बाद पिण्डदान के अवसर पर तर्पण करते हुए उनके उपास्य देव से मुक्ति के लिए प्रार्थना नहीं की जाती है, किन्तु भगवान श्रीकृष्ण के ही प्रार्थना मन्त्र बोले जाते हैं।

अनादि निधनो देवः शंख चक्र गदाधरः।
अक्षय्य पुण्डरीकाक्षः प्रेतमोक्ष प्रदोभव।।
कृष्ण-कृष्ण कुपालुस्त्वमगतीनां गतिर्मव।
संसारार्णवभग्नानां प्रसीद पुरुषोत्तम।।
नारायण सुरश्रेष्ठ लक्ष्मीकान्त वरप्रद।
अनेन तर्पणेनाथ प्रेतमोक्ष प्रदोभव।।

(शास्त्र वचन)

विधिपूर्वक जप करे

आत्मगत मलों को साफ करने के लिए मात्र शास्त्रों का बनाया हुआ उपाय (साधन ही) काम कर सकता है। उपायों में मन्त्र जप सर्वोतम माना गया है। अत एव भगवान् श्री कृष्ण ने— ***'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'।।*** कहकर अपने को जप यज्ञ स्वरूप बतलाया है। मनु ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि मन्त्र जप से ही लौकिक तथा पारलौकिक सिद्धि मिलती है।

जपेनैव त्रु संसिद्धेद ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः।।

(अध्यात्म रामायण)

मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते।।

अर्थात् भगवान् श्रीराम कहते हैं कि सांगोपांग मन्त्र का जप सप्तम भक्ति है। पद्मपुराण में भव-बंधन से मुक्ति के लिए सोलह प्रकार की भक्तियाँ बतलायी गई हैं— ***'अर्चनं च जपोध्यानं'*** कहकर जप को प्रधान स्थान दिया है। राम चरित मानस में शबरी के प्रति नवधा भक्ति का उपदेश करते हुए श्रीराम ने कहा—

मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा।
पंचम भजन सो वेद प्रकाशा।।

इस तरह सर्वत्र शास्त्रों के अवलोकन से इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि अनादि काल से मोहवश किये गये दुष्कर्मों के द्वारा सञ्चित आत्मगत मलों के निवारण से श्रीवैष्णवों को तुलसी या कमलाक्ष की माला पर मूल मन्त्रादि का जप करना चाहिए। भगवद् मन्त्रों का जप रुद्राक्ष की माला पर निषिद्व है। अतः न उसे धारण करे और न उस पर जप ही करें। शास्त्रों में जप तीन प्रकार के बताये गये हैं— वाचिक, उपांशु और मानस। तीनों प्रकार के जपों का विधान अलग-अलग है। वाणी से जप करने में दस गुणा फल, उपांशु (होठहिले परन्तु दूसरा मनुष्य शब्द न सुन सके वह) जप करने में सौ गुणा फल तथा एकाग्रता पूर्वक मन में जप करने में जिसमें जिह्वा भी न हिले, इससे हजार गुणा फल होता है। प्रथम वाचिक जप, द्वितीय उपांशु और तृतीय मानस जप है। इन तीनों में मानस जप सर्वोत्तम है। जप करते समय वस्त्र से छिपा कर जप करना चाहिए। मन्त्र जप के समय माला को तर्जनी तथा कनिष्ठा से स्पर्श न करें, न माला को अधिक हिलावे-डुलावें। प्रायः हाथ से भी स्पर्श न होने दें।

जपते समय यदि भूल या असावधानी से माला नीचे गिर पड़े तो १०८ बार अधिक जप करें। जप के समय मौन रहना चाहिए। मन्त्रप्रतिपाद्य देव और मन्त्राधिष्ठातृ देव के स्वरूप का ध्यान करते हुए जप करना चाहिए।

माला के आभाव में कभी-कभी अगुलियों पर भी जप किया जा सकता है, जिसे कर माला कहते हैं। अनामिका के मध्य पर्व से आरम्भ करके नीचे के पर्व से होते हुए कनिष्ठा अंगुली के निम्न पर्व से जपते हुए ऊपर की ओर तर्जनी के पर्वसे ऊपर की ओर होते हुए अनामिका के मध्य पर्व तक पहुँच जाय। मध्यमा अंगुली के नीचे के दो पर्व पर अंगुली नहीं जानी चाहिए, न उसका अल्लङ्घन करे।

आरभ्यानामिका मध्यपर्वाण्युक्तान्यनुक्रमात्।
तर्जनी मूलपर्यन्तं जपेद्दशसु पर्वसु।।
मध्यमाङ्गुलिमूले तु यत्पर्वद्वितथं भवेत्।
तं वै मेरु विजानीयाज्जपे तं नातिलङ्घ्यते।।

अल्प समय होने पर भी १०८,२८,१० बार अवश्य कर ले। प्रातः काल मूल मन्त्र तथा गायत्री मन्त्र का जप करने से रात्रि में मन कर्म वचन से अज्ञात रूप में हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। मध्याह्न में जप करने से पञ्च महापातक तथा उपपातक नष्ट हो

जाते है। अत एव महानारायण उपनिषद् का वचन है कि—

प्रातरधीयानो रात्रि कृतं पापं नाशयति।
सायमधीयानो दिवस कृतं पापं नाशयति।
तत्सायं प्रातरधीयानोऽपापो भवति।।
मध्यं दिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः।
पञ्च महापाताकोपपपातकात्प्रमुच्यते।।
सर्ववेद पारायणजपुण्यं लभते।
नारायणसायुज्यमवाप्नोति।।
श्रीमन्नरायण सायुज्यमवाप्नोति।।य एवं वेद।।

मूल मन्त्र जप करने से लौकिक विशेष फलों का भी निर्देश उपनिषद् में किया गया है। यथा— ***'सर्वमायुरेति विन्दते प्राजापत्यं रायष्पोषं गोपत्यं ततोऽमृतत्वमश्नुते'*** भाव यह है कि मूल मन्त्र जप करने से आयु, यश तथा धन की वृद्धि होती है और शरीरा-वसान के बाद श्रीभगवान् की सायुज्य मुक्ति मिलती है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है—

किं तत्र बहुभिर्मन्त्रैः किं तत्र बहुभिर्व्रतैः।
नमो नारायणायेति मत्रः सर्वार्थ साधकः।।

अर्थ यह है कि जब ***'ॐ नमो नारायणाय'*** यह वैदिक मन्त्र लौकिक तथा पारलौकिक फलों को देने में पूर्ण समर्थ है तो अनेक मन्त्रों और व्रतों से क्या लाभ? अर्थात् अन्य मन्त्रों तथा व्रतों का पालन करने की आवश्यकता नहीं है।

नारायणेति शब्दोऽस्ति वागस्तिवशवर्तिनी।
तथाऽपि नरके घोरे पतनयेतदद्युतम्।।

नारायण यह शब्द है, जिह्वा अपने वश में है, फिर भी मनुष्य अपनी जिह्वा से नाम नहीं लेने के कारण नरक में जाता है। यह बड़ा आश्चर्य है। क्योंकि इतना सुलभ उपाय को भी मनुष्य नहीं कर पाता है। अजामिल ने एक बार नारायण यहकर मुक्त हो गया। मार्कण्डेय भगवद् मन्त्र जप कर दीर्घायु हो गये। अतः सम्प्रदायानुसार गुरु परम्परा से प्राप्त अष्टाक्षर, षडक्षर, द्वादशाक्षर मन्त्रों का जप करे।

चिन्तन के कुछ क्षण

१. जीवन पथ पर सिर्फ अकेले ही बढ़ना होता है कोई किसी का साथ नहीं देता। जो देता भी है वह अस्थायी होता है।

२. मनुष्य के सच्चे साथी उसकी हिम्मत धीरज, साहस है, ये ही उसके मित्र हैं। जो समय के रथ को स्वयं ही खींचता है, वही सफल होता है।

३. तमाम मुसीबतों के बावजूद हिम्मत मत हारो। जो गिरेगा वही उठेगा। जिसने पर्वत पर चढ़ने की कोशिश ही न की वह क्या जाने पर्वत पर आने वाली दिक्कतें, मिलने वाला सुख। सीढ़ियों पर चढ़ते रहो, एक-एक करके, कूदो नहीं।

४. सफलता की देवी तुम्हारे कदम चूमेगी। तुम्हें गिराने वालों की नजरें तुम्हारे पैरों पर गिरेंगी।

५. तुम उन्हें विनम्र होकर सान्त्वना देना; क्योंकि उनके कारण तुम गिरे, फिर उठे और आज उस जगह पर हो जहाँ तुम्हें यश मिल रहा है, जहाँ तुम श्रीपति बने हो, जहाँ इज्जत-दौलत सब कुछ तुम्हारे चरणों में है।

लाभ ले तुलसी की सेवा से

तुलसीगन्धमादाय यत्र गच्छाति मारुतः।
विदिशाश्च दिशः पूतः भूतग्रामश्चतुर्विधः।।

प्राचीन ऋषियों ने अपनी प्रज्ञा द्वारा रहस्य को साङ्गोपाङ्ग गवेषणा करके लिखा है कि मानव को प्रतिदिन तुलसी के सेवन का पर्याप्त उपयोग करना चाहिए। दैनिक दिनचर्या में तुलसी के सेवन का पर्याप्त उपयोग है। प्राचीन भारत में वह कोई आस्तिक का घर नही था, जिसमें तुलसी की वाटिका न हो। वनस्पति विज्ञान के आचार्यों ने परीक्षण करके लिखा है कि तुलसी नामक प्रसिद्ध औषधि त्रिदोषजन्य अनेक ज्वरों एवं मलेरिया के किटाणुओं को समूल नष्ट कर देती है। जैसा कि पद्मपुराण में मिलता है—

तुलसीस्पर्शने नैव नश्यन्ति व्याधयो नृणाम्।।

तुलसी का पौधा जहाँ पर रहता है, उनके आस-पास का स्थान पवित्र माना गया है। जिससे सुख शान्ति मिलती है। तुलसी सेवा करने वालों का कल्याण करती है। उससे लोक तथा परोलोक दोनों का सुधार होता है। उससे सात्विक भावों की वृद्धि होती है। मन में दया, प्रेम तथा दिव्य गुणों का सञ्चार होता है। वह सौभाग्य, धन, पुत्र और आरोग्य को बढ़ाती है। मरने के समय भी तुलसी मिश्रित गङ्गा जल पिलाया जाता है। जिससे आत्मा पवित्र हो सुख शान्ति से परलोक गमन करे। सात्त्विक्ता की वृद्धि तथा भगवन्मुखोल्लासार्थ तुलसी की माला पूजा, दान, जप, तप, होम, कथा-कीर्तन आदि के सयम गले में धारण की जाती है। शव जलाते समय चिता पर सुखी तुलसी की लकड़ी देने से मृतात्मा शान्ति तथा अक्षय सुख का अनुभव करता है।

तुलसी पौधा स्वास्थ्य के लिए भी विशेष लाभप्रद है। उसमें मलेरिया के विषाक्त वायु को दूर करने की अद्‌भुत क्षमता है। वह ज्वरों को हटा कर पूर्ण स्वस्थ बनाती है।

वैज्ञानिकों के परीक्षण से सिद्ध हुआ है कि १०८ प्रकार के रोगोत्पादक कीटाणु तुलसी से नष्ट होते हैं। अत एव बहुत सी औषधियों के अनुपान में तुलसी का ही प्रयोग किया जाता है।

इन्हीं कारणों से अलौकिक इस पौधे की महती उपयोगिता जानकर ऋषियों ने धार्मिक सम्मान दिया है। यह तुलसी पौधा ईश्वर भक्त धर्मात्माओं के निवास-स्थान का परिचायक बन गया था। अत एव लङ्का में—

नव तुलसी के वृन्द बहू देखि हरषि कपिराय ।

के अनुसार श्री हनुमान जी विभीषण के निकटवर्ती तुलसी पौधो को देख कर हर्षित हुए थे।

चित्रकूट में श्रीराम-सत्संग वेदी के चारो तरफ तुलसी के पौधे लगाये गये थे। यथा—

तुलसी तरुवर विविध सुहाए।
कहुँ-कहुँ सिय कहुँ लखन लगाए।।

पद्मपुराण में कहा गया है कि तुलसी आरोपण करने वाले तुलसी सिञ्चन करने वाले, तुलसी में दीप दिखाने वाले, तुलसी के पास के भूमाग को साफ करने वाले निर्मल अन्त:करण होकर अपने कुल सहित श्री विष्णु लोक में जाते हैं। युक्ति-पूर्वक तुलसी की सेवा करने वाले में आयु, यश, बल तथा धन की भी वृद्धि होती है और राहु, शनि, मङ्गल जैसे क्रूर ग्रहों से बचाव होता है

यात्रा के समय तुलसी के दर्शन से यात्रा सफल होती है, इस प्रकार तुलसी पूजन से ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों सुखों का मनुष्य भाजन बनता है।

श्रीभगवान् की सेवा के लिए तुलसी-पत्र तथा

मंजरी उतारे (तोड़े)। भगवान् तुलसी पत्र एवं मंजरी चढ़ानें से प्रसन्न होते हैं।

नच्छिन्द्यात् तुलसी पत्रं द्वादश्यां वैष्णवैः क्वचित्।
यश्छिन्देत् प्रमादेन तेन छिन्नं हरेः शिरः।।

अर्थात् वैष्णव द्वादशी को तुलासी पत्र न तोड़े, जो प्रमाद से तोड़ता है वह नारायण के मस्तक को काटता है। अतः द्वादशी तिथि को तुलसी न तोड़े। इसी प्रकार रात्रि में भी तोड़ना मना है।

तुलसी पत्र तथा मञ्जरी तोड़ने का मन्त्र—

तुलस्यमृतं जन्मासि सदा त्वं केशवप्रिये।
केशवार्के विचिन्वामि वरदा भव शोभने।।

पुत्र, आरोग्य, सौभाग्य आदि का मनोरथ रखने वाली नारियाँ तुलसी जी में जल देकर निम्नलिखित मन्त्र से प्राथना करें—

सौभाग्यं सन्ततिं देहि धनं धान्यं च मे सदा।
आरोग्यं शोक शमनं कुरु मे माधवप्रिये।।

●

भगवान के गुणों की दिव्यता

श्री वैष्णावाचार्यों ने तीन रत्न स्वीकार किया है–मन्त्ररत्न, पुराणरत्न और स्तोत्ररत्न। मन्त्रों में द्वयमन्त्र रत्न है। पुराणों में श्रीविष्णुपुराण रत्न है और स्तोत्रों में आलवन्दार स्तोत्र रत्न है। आलवन्दार स्तोत्र श्रीयामुनमुनि ने निर्माण किया है। जो समस्त वेदान्तदर्शन का सार है। समस्त वेदान्तार्थ को श्री यामुनमुनि ने स्तोत्र के माध्यम से भावुक भक्तों को दिया है।

स्वादयन्निह सर्वेषां त्रयन्तार्थं सुदुर्ग्रहम्।
स्तोत्रयामास योगीन्द्रस्तं वन्दे यामुनाह्वयम्।।

श्री यामुनाचार्य जी स्तोत्ररत्न के १८वें श्लोक से भगवान के ११ गुणों का वर्णन कर उन्हें स्वभावतः समस्त गुणों का समुद्र कहा है वह १८ वाँ श्लोक ये है—

वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचि-
र्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः
समस्त कल्याण गुणामृतोदधिः।।

२६वें वर्ष के तृतीय अङ्क में भगवान की पाँच गुणों की व्याख्या की गयी है। पाँच गुण ये हैं– वशी, वदान्य, गुणवान, ऋजुः और शुचि। शेष छः गुणों की व्याख्या की जा रही है।

दयालु—अपने लिए किसी फल की इच्छा न करते हुए दूसरे के दुःख का निराकरण करने की इच्छा को दया कहते हैं। भगवान किसी फल की चाह न रखके जीवों के दुःख को दूर करने वाले हैं। यही भगवान में दया गुण है।

प्रश्न—समस्त जगत् का पालन सृजन भगवान ही करते हैं। वे दयालु हैं तो फिर संसार में प्राणी दुःखी क्यों?

उत्तर—यह बात सत्य है कि सभी प्राणियों के स्वामी भगवान हैं। भगवान संसार में जीवों का सृजन कर्म के अनुसार ही करते हैं। जीव अनादि है जीव का नाश नहीं होता। पूर्व शरीर को त्याग देना मुत्यु है, और नये शरीर में प्रवेश कर जाना जन्म है। जन्म–मृत्यु का चक्र अनादि काल से चला आ रहा है। जीव जो भी पुण्य या पाप करता है उसका संस्कार आत्मा में चिपका रहता है। भगवान कर्मानुसार सृष्टि करते हैं, जिसका जैसा कर्म का संस्कार जीवात्मा में रहता है, उसी के अनुसार भगवान उसे फल देते हैं। भगवान अवाप्तसमस्त काम हैं। स्वार्थ से कोई काम नहीं करते हैं, अपने संकल्प से विविध

विचित्र चिद्-अचिद् मिश्र जगत् का सृजन करना उनकी लीला मात्र है। अत–एव वेदव्यास ने कहा— ***'लोकवत्तु–लीला कैवल्यम्'*** (२.१.३३) ऐसा ब्रह्मसूत्र में कहा है। भगवान चिद्-अचिद् वस्तु से विलक्षण हैं। उनके द्वारा जो जीवों का सृजन होता है वह कर्मानुसार जिस आत्मा में जैसा जीव का संस्कार रहता है, उसके अनुसार देव मनुष्य आदि शरीर देते हैं और जीव के कर्मानुसार ही सुख दु:ख का फल देते हैं। अत–एव वेदव्यास ने कहा कि— ***'वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति'*** (२.१.३४) अर्थात् कर्म के अपेक्षा रखकर भगवान सृष्टि करते हैं। उसके अनुसार ही जीव को सुख दु:ख प्राप्त होता है, अत: भगवान में निर्दयता और विषमदर्शता का दोष नहीं है। भगवान निर्दयी और विषमदर्शी नहीं हैं। श्रुति भी कहती है साधु कार्य करने वाला साधु के रूप में उत्पन्न होता है, और असाधु कर्म करने वाला असाधु के रूप में उत्पन्न होता है। सृष्टि में उच्च-नीच भाव रहने का कारण सृष्टि (उत्पन्न) होने वाले जीवों के पूर्व कर्म ही है। अत: भगवान में वैषम्य नैर्घृण्य दोष नहीं है।

मधुर:—'रसो वै स:' (तैत्तिरीय) 'आनन्दो ब्रह्म' (तैत्तिरीय) इन उपनिषद मन्त्रों से निरातिशय आनन्द स्वरूप भगवान कहे गये हैं। भगवान का ध्यान आनन्द स्वरूप में करे। आनन्दमय भगवान ही मधुर हैं। भगवान के सारे स्वरूप और कर्म में माधुर्य है। भगवान ने गीता में कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय:।।

(७,१७)

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त: परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।

(१०,७)

ज्ञानी मेरा अत्यन्त प्रिय है और उसका प्रिय मैं हूँ भक्त मेरी लीला का वर्णन करते हुए आनन्दित होते हैं एवम् मुझ में रमण करते हैं।

वाल्मीकि रामायण में कहा गया है—

प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघव:,
सोमवत् प्रियदर्शन:'
रूपौदार्यगुणै: पुसां दृष्टिचित्तापहारिणम्

भगवान का वचन और उनका शारीरिक कर्म मधुर है। चन्द्रमा के समान उनका दर्शन मधुर है। अत: भगवान का माधुर्य दिव्य है। अत एव भगवान मधुर स्वरूप कहे गये हैं—

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।

स्थिर—आश्रितों के अपराधों से तथा उन अपराधों के बतलाने वालों से भगवान क्षुभित नहीं होते। इसलिए भगवान श्रीराम ने सुग्रीव से कहा है— ***'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न तेजेयं कथञ्चन'*** अर्थात् उनमें दोष होते हुए भी मित्र भाव से आये हुए विभीषण को नहीं छोडूँगा। सुग्रीव में दोष होते हुए भी भगवान उसे नहीं छोड़े। विभीषण के बारे में सुग्रीव ने दोष बताया तब भी भगवान ने विभीषण को नहीं छोड़ा।

सम:—जाती से गुण से और चरित्र से विषमता होने पर भी सभी के लिए भगवान शरण्य हैं। शरणागतों को जाति आदि के अनुसार किसी प्रकार की भी विषमता नहीं आने देते हैं। गीता में भगवान ने कहा है कि मेरे लिए सब प्राणी समान हैं, न मुझे किसी से द्वेष है और न किसी से मित्रता है।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(गी० ५,२९)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय:।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।

(गी० २/२९)

'सर्वस्य शरणं सुहृद' (श्वेताश्वेतरोपरिषद्)।

कृति—अपने लिए कोई कर्त्तव्य विशेष न रखने वाला, **'न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन'** अथवा अश्रितों के संरक्षण से अपने को कृतकृत्य समझना, जैसे विभीषण का लङ्का में राज्याभिषेक हो जाने के कारण भगवान श्रीराम अपने को कृतकृत्य माने—

अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रंविभीषणम्।
कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह।।

अथवा कृति में कृत शब्द का अर्थ है उपकार वह कृत जिसमें है उसे कृति कहते हैं। अथवा धर्म वृद्धि के लिए प्रवृत्त होने वाला, इसका भाव निकलता है कि विशेष रूप से उपकार करने वाला, भगवान ने गीता में कहा है कि—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्यभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

अर्थात् अनन्य रूप से मेरी उपासना करने वाले को योग और क्षेम दोनों रूप से मैं वहन करता हूँ। अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करा देना योग है और प्राप्त वस्तु की रक्षा करना क्षेम है। भगवान अपने भक्तों के लिए अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करा देते हैं और प्राप्त वस्तु की रक्षा करते हैं। श्री वेदान्तदेशिक ने कृति शब्द का भाष्य करते हुए यह उल्लेख किया है।

कृतज्ञः—दूसरों के द्वारा किया हुआ उपकार को याद रखने वाला, भगवान के प्रति कोई छोटा उपकार भी कर देता है उसे भी वे स्मरण रखते हैं।

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मव्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।।

कोई व्यक्ति एक बार भी उनका उपकार कर देता है तो उस पर उसे सदा सन्तुष्ट रहते हैं। उस किये हुए उपकार के प्रति भी वे ध्यान न देते।

श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है दुःशासन द्वारा चीरहरण के समय। द्रौपदी ने दूर में स्थित मुझे गोविन्द कहकर जो आक्रन्दन किया वह बढ़े हुए कर्ज की तरह मेरे हृदय से दूर नहीं होता है।

गौविन्देति यदाक्रन्दत् कृष्णा मां दूरवासिनम्।
ऋणं प्रवृद्धमिव मे हृदयान्नापसर्पति।।

रामायण में भगवान श्रीराम ने कहा सिर से उसने याचना की, तो भी मैंने उनका मनोरथ पूरा नहीं किया। यह कथन चित्रकूट में भरत से की हुई अयोध्या लौटने की प्रार्थना के सन्दर्भ में है।

'शिरसा याचतस्तस्य न कृतं वचनं मया'।

(रामा०(यु०)–१२४/१२)

रङ्गनाथ भगवान की स्तुति

मोहि रङ्गनाथ अपनाये, । टेक ।
परम दयालु कृपा करके प्रभु, अपने शरण बुलाये ।।१।।
मन्त्रराज द्वय चरम मन्त्र को, सब विधि से सुनवाये ।।२।।
सुन्दर चरण उपाय बताकर, अरचि राह दिखलाये ।।३।।
ऐसी कृपा दीन पर करि हरि, दुरित दूर भगाये । टेक ।
मोहि रङ्गनाथ अपनाये ।

मध्यमे भगवत्तत्व याथात्म्यावाप्तिसिद्धये।
ज्ञान कर्माभिर्निर्वर्त्यो भक्तियोगः प्रकीर्तितः।।

मध्यम षट्क के अन्तर्गत इस सप्तम अध्याय में विज्ञान सहित ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ भगवत्स्वरूप के ज्ञान को ज्ञान शब्द से और जड़-चेतन से विलक्षण रूप में भगवान को समझना विज्ञान शब्द से प्रतिपादित है। जड़ को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति ज्ञान रहित और परिवर्तनशील है। जिसमें ज्ञान हो उसे चेतन कहते हैं। वही जीव है। जीव अणु, ज्ञानाकार और भगवान का शेष है। जड़ और चेतन इन दोनों का नियमन एवं धारण भगवान् करते है। वे ही दोनों की आत्मा भी हैं। भगवान समस्त प्राकृत दोषों से रहित, अपरिमित कल्याण गुणमय तथा अनन्त विभूतियों से युक्त हैं, इस रूप में परमात्मा को समझना जड़-चेतन से विलक्षण रूप में समझना है।

विज्ञान सहित ज्ञान के वर्णन-प्रसङ्ग में पाँच विषय कहे गये हैं—

(१) उपास्यरूप परमात्मा का यथार्थ स्वरूप।

(२) माया से जीवात्मा के स्वरूप का तिरोहित होना।

(३) जीवात्मा की माया को दूर करने के लिए भगवान् की शरणागति।

(४) उपासकों के भेद।

(५) चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी की श्रेष्ठता।

परब्रह्म श्रीवासुदेव ही उपास्य हैं। वे सम्पूर्ण जड़-चेतन पदार्थों के स्वामी, सबके कारण, सर्वाधार, सम्पूर्ण जगत् की आत्मा और सबके नियन्ता हैं। वे अनन्त कल्याणगुणों से परिपूर्ण एवं परमश्रेष्ठ हैं। मानव सात्त्विक, राजस और तामस त्रिगुणमय पदार्थों से मोहित होने के कारण मनुष्यादि शरीर में स्थित भगवान को नहीं जानता है। पुण्य के अनुसार की जाने वाली भगवत्शरणागति से त्रिगुणात्मक आवरण का नाश होता है। पुण्यों के न्यूनाधिक्य से उपासकों के तीन भेद हैं–ऐश्वर्यार्थी, कैवल्यार्थी और ज्ञानी। परम पुरुष परमात्मा का अत्यन्त प्रिय होने के कारण ज्ञानी भक्त सबसे श्रेष्ठ और दुर्लभ हैं। तीनों प्रकार के भक्तों के लिए जानने और प्राप्त करने योग्य ब्रह्म, अध्यात्म आदि का भी उल्लेख किया गया है।

अष्टम अध्याय में अर्थार्थी जिज्ञासु और ज्ञानी इन तीन प्रकार के भक्तों के जानने और प्राप्त करने योग्य वस्तु-भेदों का तथा अर्चिरादि एवं धूममार्ग का विवेचन किया गया है। यहाँ सर्वप्रथम अर्जुन ने ब्रह्म, अध्यात्म आदि का स्वरूप समझने के लिए भगवान से प्रश्न किया है। उसके उत्तर में भगवान ने ***'अक्षरं ब्रह्मं परमम्'*** ऐसा कहा है। अर्थात् ब्रह्म परम अक्षर है। यहाँ ब्रह्म शब्द जीवात्मा का वाचक है। जीवात्मा का नाश नहीं होता है, इसलिए उसे अक्षर शब्द से कहा गया है। प्राकृत सम्बन्ध से रहित जीव निर्मल होता है, अतः उसके लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया। परम शब्द जीवगत उत्कृष्टत्व का बोधक है। प्राकृत सम्बन्ध राहित्य ही जीवगत उत्कृष्टत्व है। आत्मा में प्रकृति का सम्बन्ध ही मल है, इसलिए भगवान् ने मल रहित जीवात्मा को परम अक्षर ब्रह्म कहा है, जो जिज्ञासुओं के लिए प्राप्य है।

गीता में ब्रह्म शब्द जीवात्मा, परमात्मा, प्रकृति आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ प्रसङ्गानुसार जीवात्मा के लिए ब्रह्म शब्द आया है।

भगवान की महिमा को जानने पर अपरिमित सुख मिलता है। अपरिमित सुख प्राप्त होने पर दानादि के फल अत्यन्त तृणवत् प्रतीत होने लगते

हैं। इसी भाव से स्वामी यामुनाचार्य जी ने कहा है कि–

हे भगवन्! आपके अमृत प्रवाहित करने वाले चरण कमलों में जिसका मन समर्पित हो गया है, वह उसी प्रकार दूसरी वस्तु की इच्छा नहीं करता, जैसे मधु से पूर्ण कमल पुष्प के पास रहकर उसका रस पान करने वाला भ्रमर क्षुद्र इक्षुरक (तालम खाना) पुष्प को नहीं देखता है।

जिस प्रकार कमल पुष्प के पराग पान-करने वाला भ्रमर को संसार के अन्य क्षुद्र पुष्प का रस अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है। उसी प्रकार भगवान के चरणारविन्द का रसिक भक्त को स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक भोग अत्यन्त तुच्छ मालूम होते हैं।

नवम अध्याय में उपास्य देव परमात्मा का माहात्म्य और अङ्गों सहित भक्तिरूप उपासना का स्वरूप बतलाया गया है। परमात्मा की प्राप्ति का सुलभ मार्ग भक्तिरूप उपासना है। उस उपासना के विशेष अङ्ग कीर्तन, नमस्कारादि का विज्ञान शब्द से और भक्तिरूप उपासना का ज्ञान शब्द से प्रतिपादन किया गया है। वह उपासना विद्याओं और गोपनीयों में राजा होने से राजविद्या और राजगुह्य शब्द से कही गई है। यह नवामाध्याय राजविद्याराजगुह्य-योग है।

समस्त जगत् का एकमात्र कारण प्राकृत दोषों से रहित, अनन्त कल्याण गुणों से परिपूर्ण, सर्वज्ञ, चार भुजाओं से युक्त श्याम मेघ के समान वर्णवाले, पीताम्बरधारी, किरीट कुण्डल आदि अनेक भूषणों से विभूषित, दिव्यस्वरूप, भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में अत्यन्त प्रेमपूर्वक मन को लगाकर उनमें सब प्रकार की भक्ति करे। विविध सामग्रियों से भगवान का पूजन करना योग कहलाता है। 'मत्परायण:' का भाव है कि भगवान् के स्वरूप, गुण, प्रभाव और लीला आदि का चिन्तन से एक क्षण के लिए भी जिसका मन नहीं हटता हो, वह भगवत्परायण होता है। अर्थात् जो एकमात्र अपने जीवन का आधार भगवान को ही मानता हो और भगवान के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करता हो, इस प्रकार मन से भगवान् का ध्यान करता हुआ, उनमें अत्यन्त निर्मल प्रेम करता हुआ, उनका सर्वविध पूजन करता हुआ, उन्हें अपने जीवन का आधार समझता हुआ, सर्वतोभावेन अपने मन, शरीर बुद्धि आदि से उनके निमित्त कीर्तन, भजन, पूजन आदि करता रहता है, वह भगवान को अवश्य प्राप्त कर लेता है।

दशम अध्याय में भगवान के चरणों में निर्मल भक्ति की उत्पत्ति तथा उत्पन्न भक्ति की वृद्धि के लिए उनके स्वरूप, स्वभाव, अनन्त कल्याण गुणों एवम् उनकी दिव्य विभूतियों का वर्णन किया गया है।

भगवान सौशील्य, वात्सल्य, सौलभ्य, ज्ञान, बल, क्रिया आदि अनन्त कल्याण गुणों के निधि हैं, उनकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इस रूप में भगवान के दिव्य गुणों और उनकी अनन्त विभूतियों का ज्ञान होने पर उनमे प्रेम उत्पन्न होता है और जैसे-जैसे प्रभु के दिव्य गुणों और विभूतियों का ज्ञान होता है, वैसे-वैसे उनमें उत्तरोतर भक्ति की वृद्धि भी होती है। इस अध्याय का नाम विभूतियोग है।

एकादश अध्याय में भगवान ने अपने यथार्थ स्वरूप के साक्षात्कार के लिए अर्जुन को दिव्य चक्षु देकर अपने विश्वरूप का दर्शन कराया है और भगवत्प्राप्ति के लिए केवल भक्ति को उपाय कहा है, ये दोनों विषय यहाँ बतलाये गये हैं। विश्वरूपदर्शन की प्रधानता होने से इस अध्याय का नाम विश्वरूप दर्शनयोग है।

बारहवें अध्याय में कहा गया है कि दो प्रकार के उपासक होते हैं–भगवान श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में मन को लगाकर उनकी उपासना करने वाले और

विशुद्ध जीवात्मस्वरूप की उपासना करने वाले। इनमें भगवदुपासक शीघ्र तथा आसानी से भगवान को प्राप्त कर लेते हैं। विशुद्ध आत्मस्वरूप की उपासना करने वाले भी भगवान को प्राप्त करते हैं, परन्तु उन्हें विशेष कष्ट होता है। क्योंकि आत्मा अक्षर, अव्यक्त, अचिन्त्य, नित्य और अणु है। इसलिए भगवान ने कहा है कि ***'क्लेशोऽधिकर-स्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्'।***

भगवान् अपनी प्राप्ति के लिए चार प्रकार के उपाय बतला रहे हैं। उन्होंने कहा है कि जो मानव मुझे प्राप्त करना चाहता हो, वह अपने मन और बुद्धि को मेरे चरणों में लगा दे। यदि मन और बुद्धि मुझ में लगाने में असमर्थ हो तो मेरा बार-बार स्मरण करने का अभ्यास करे। जो अभ्यास करने में भी असमर्थ हो वह मेरे निमित्त कर्म करे। इसका भाव है कि भगवान का मंदिर बनावे, उनके निमित्त बगीचा लगावे, मंदिर में दीपक जलावे झाड़ू लगावे, मंदिर को धोये, आवश्यकतानुसार मंदिर के अग्रभाग को लीपे, भगवत्पूजन के लिए फूल तोड़े, उनकी पूजा करे, उनके नामों का संकीर्तन करे और उनकी स्तुति करे। इस प्रकार भगवन्निमित्त समस्त कर्मों का अत्यन्त प्रेम पूर्वक आचरण करे। प्रेमपूर्वक भगवन्निमित्त कर्म करता हुआ मानव भगवान को अवश्य प्राप्त कर लेता है। अपने लिए किये गये कर्म बन्धनकारक होते हैं और भगवन्निमित्त किये गये कर्म भव-बन्धन से छुड़ाते हैं। इसलिए प्रभु की ओर से आदेश हो रहा है कि जो अनादिकाल से अपने लिए कर्म करने का तुम्हें अभ्यास बना हुआ है, उसे मेरे निमित्त करो। उससे भी दु:खमय संसार से छूटकर तुम मुझे प्राप्त कर लोगे। जैसे बिल्ली जिस मुख से चूहों को पकड़ती है, उसी मुख से अपने बच्चों को भी पकड़ती है। संकल्प भेद से चूहों की जान चली जाती है और बच्चों की रक्षा होती है। उसी प्रकार भावना के भेद से सांसारिक कष्ट और बन्धन से मुक्ति ये दोनों होते हैं, अपने स्वार्थ के लिए कर्म करने पर संसार की व्यथायें मिलती हैं और भगवन्निमित्त कर्म करने पर परमानन्द मिलता है।

श्रीविष्णुसहस्रनाम (३६-५५ नामों) की हिन्दी भाष्य

इससे पूर्व अंक में श्रीविष्णुसहस्रनाम के ३५ नामों का अर्थ दिया गया है ३६वाँ नाम से यहाँ प्रारम्भ किया जा रहा है।

(३६) ईश्वरः—अवतार काल में उनका ऐवर्श्य अक्षुण्ण रहता है। वे सदा ही ईश्वर हैं। मनुष्यादि के रुपों में प्रकट होने पर भी उनके ईश्वरत्व में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। अवतारों में ब्रह्मादिकों की अपेक्षा अधिकाधिक ऐश्वर्य प्रयोजनार्थ सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न होने से ईश्वर उनकी संज्ञा है।

स्वयम्भूः शरम्भुरादित्यः पुष्कराक्षो महास्वनः।
अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुतमः।।

(३७) स्वयम्भूः—चतुर्मुखादि तुल्य किसी अन्य की प्रेरणा से या किसी तरह अन्य कर्माधीन होकर वे अवतीर्ण नहीं होते केवल स्वेच्छया, अवतीर्ण होते हैं। यही सदा-सर्वदा सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न रहने में कारण है।

(३८) शंभु—अपना मनोहर सौन्दर्य सौशिल्यादि गुणों को प्रकट कर भगवान भक्तों को सुखी बनाते हैं। वे स्वयं सुख स्वरूप हैं। अत: शंभु उनकी संज्ञा है।

(३९) आदित्यः—भगवान अवतार ग्रहण करते हैं तथा वे सबों को सुख प्रदान करते हैं, यह कहा जा चुका है इन दोनों तथ्यों का उदाहरण आदित्य नाम से मिलता है। सामान्यतया सूर्य को आदित्य

कहते हैं। सूर्य से संसार को जीवन, प्रकाश और बुद्धि मिलती है। भगवान सूर्य में निवास करते हैं।

'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुष दृश्यते' ।

'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती' ।

सूर्यमण्डल मध्यवर्ती नारायण का सदा ध्यान करना चाहिए। ऐसी स्थिति में सूर्य से जो कुछ मिलता है, वह वस्तुतः भगवान से ही प्राप्त होता है।

(४०)पुष्कराक्षः—पुष्कर लाल कमल को कहते हैं तत्तुल्य नेत्र कमल जिनका है, उनकी संज्ञा पुष्कराक्ष है।

(४१) महास्वनः—अनन्त अपौरुषेय वेद भगवान के शब्द हैं। अतः महास्वन उनका नाम है।

(४२)अनादिनिधनः—जिनके नेत्र कमल के समान भक्त आह्लादकारक हैं। जिनका शब्द वेद है जो आदि अन्त हीन हैं अर्थात् जिनकी उत्पत्ति विनाश नहीं होता है। अवतार दशा में उनका प्रादुर्भाव और तिरोभाव की स्थिति वैसे ही है जैसे कि पर्दे के बाहर आ जाना और पर्दे के भीतर चला जाना। अवतारी के रूपों की भी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, इसी दृष्टि से भगवान का रूप ब्रह्मा आदि की अपेक्षा विलक्षण है।

(४३)धाताः—रूप में ही ब्रह्मा की अपेक्षा उनकी विलक्षणता हो ऐसा नहीं है। कारण की दृष्टि से भी वे ब्रह्मा से विलक्षण हैं। भगवान अचित्समष्टि प्रकृति के गर्भ में चित्समष्टिभूत ब्रह्मा को धारण करते हैं।

(४४)विधाताः—ब्रह्मा को प्रकृति गर्भ से जन्म देने के कारण भगवान की विधाता संज्ञा हुई। 'यो ब्रह्माणं विदधातिपूर्वम्' तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखो अजायत'।

(४५)धातुरुत्तमः—स्रष्टा ब्रह्मा की अपेक्षा अर्थात् जन्मदाता भगवान जातक (ब्रह्मा) की अपेक्षा अत्युत्कृष्टतम हैं। ''परो नारायणो देवः तस्माज्जाताश्चतुर्मुखः'' ब्रह्मारूद्र के संवाद में यज्ञ भाग ग्रहण में कौन अग्रगण्य है। इसका उत्तर में कहा गया है कि परोनारायणो देव इत्यादि।

अप्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः।
विश्वकर्मा मनुस्त्वष्टा स्थविष्ठः स्थविरो ध्रुवः।।

(४६) अप्रमेयः—जो ब्रह्मा आदिकों के स्रष्टा हैं उनको ब्रह्मा तथा उनकी सृष्टि के लोग नहीं जान पाते। अपनी इन्द्रियों के द्वारा जान भी नहीं सकते, कारण कि वे इन्द्रियों से परे हैं वाङ्मनसा अगोचर है। सर्वेषां साक्षीभूतोऽसौ न ग्राह्यः केन चित् क्वचित्। सगुणो निर्गुणो विश्यो ज्ञान दृश्योह्यसौ स्मृतः। अतः भगवान की संज्ञा अप्रमेय है।

(४७)हृषीकेशः—भगवान इन्द्रियों के परे हैं, इतना ही नहीं अपितु इन्द्रियों के नियामक हैं जैसा कि ऊपर कहा गया है। इसके अतिरिक्त हर्ष सौख्य और सुख ऐश्वर्य के सर्वस्व होने के कारण भी वे हृषीकेश हैं।

(४८)पद्मनाभः—जिसके नाभि में कमल है। पुराणों में प्रसिद्ध है कि विष्णु भगवान के नाभि कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। ध्यान रहे यहाँ पर कमल शब्द काल समय का प्रतीक है

(४९) अमरप्रभुः—समस्त देवताओं के वे प्रभु हैं। इन देवताओं को योग्यतानुसार अधिकार प्रदान कर वे सवों के निर्वाहक हैं। प्रमाण के लिए निम्नवचन अवलोकनीय है—

महार्णवे शचानोऽप्सु मां त्वां पूर्वमजीजनः।

(वा०रा०उ०)

प्राजापत्यं त्वचा कर्म सर्वं मयि निवेशितम्।

(म०या०)

प्रलयकाल में जब आप जल में शयन किये हुए थे उसी समय आपने मुझे जन्म देकर प्रजाओं का आधिपत्य सौंप दिया था।

(५०)विश्वकर्मा—विश्व, जगत् व्यापार उनका

कार्य है वे जगत् के कर्ता हैं। ब्रह्मा को जन्म देने के पश्चात् उनके माध्यम से जो सृष्टि का कर्म चलता है वह जगत् के अन्तर्गत होने से भगवान के अधीन है।

ब्रह्मा ने भगवान का ध्यान कर अर्थात् उनका सहयोग प्राप्त करने पर अनेकानेक प्रजाओं का सृजन किया।

(५१)मनुः—प्रश्न होता है कि भगवान का यह जगत् कर्तृव्य किस प्रकार का है?

उत्तर-मनु नाम में है। ज्ञान अथवा अवबोधन से प्रकट होने वाला मनन का भाव इस शब्द में है। वे अपने संकल्प मात्र से सारा कार्य करते हैं।

(५२)त्वष्टा—त्वष्टा का काम होता है प्रत्येक अवयव को अलग-अलग करना। भगवत संकल्पानुसार यह जगत् जब सूक्ष्म से स्थूलरूप धारण करता है तो इसके सारे पदार्थ नामरूप के भेद से अलग-अलग हो जाते हैं। भगवत त्वष्टा हैं। प्रत्येक पदार्थ को उनका नाम रूप प्रदान करते हैं।

(५३) स्थविष्ठः—इस शब्द का अर्थ हुआ अत्यन्त स्थूल। भगवान सम्पूर्ण जगत् के शरीरी आत्मा है। अतः सूक्ष्म रूप में भी यह जगत् उनका रूप है और स्थूल रूप में भी यह उनका रूप है। जगत् के स्थूल रूप धारण कर लेने पर भगवान स्थविष्ठ रूप में दर्शन देते हैं। इस रूप में इनका नाम सार्थक होता है।

(५४) स्थविरः—सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म यह प्रकृति का क्रम है। भगवान प्रकृति से विलक्षण हैं। प्रकृति के परिणाम उनको प्रभावित नहीं कर पाते। ये सभी कालों में स्थित रहते हैं।

(५५) ध्रुवः—प्रकृति के अगणित परिणामों के मध्य वे अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं। वे अपने स्वरूप से कदापि च्युत नहीं होते । भीष्मजी ने इसी से इन्हें ध्रुव कहा है।

तत्त्वमसि श्रुति का अर्थ

उपनिषद् सद्विद्या में आगे यह वर्णन करती है— ***'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् तत् सत्यम् स आत्मा'***। इस वाक्य से पिता पुत्र को यह उपदेश देते हैं कि सद् ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला यह चेतनाचेतन प्रपञ्च प्रजा कहा जाता है। सशरीर जीव प्रजा शब्द से अभिहित होता है। इसमें शरीर अचेतन है जीव चेतन है। यह चेतनाचेतन प्रपञ्च सत् से उत्पन्न हुआ है सत् इसका उपादान एवं निमित्त कारण होने से इसका मूल है। सत् इसका आयतन अर्थात् धारक है यह प्रपञ्च सत् आधार के ऊपर अवस्थित है। वह सत् नियामक बनकर इसका आधार है। यह प्रपञ्च सत् के द्वारा नियाम्य है तथा सत् का शेष है अर्थात् सत् के लिये यह रहता है। यह प्रपञ्च सत् में लीन होने वाला है। सत् इसका लय स्थान है, अत एव प्रतिष्ठा है। श्रुति इन विशेषताओं का विस्तार से वर्णन कर आगे बतलाती है कि ***'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'*** अर्थात् सदब्रह्म इस प्रपञ्च का सब तरह से कारण है यह प्रपञ्च उसका कार्य है। इन दोनों में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है तथा इनमें शरीरात्मभाव सम्बन्ध भी है; क्योंकि सत् इस प्रपञ्च का आत्मा है, यह प्रपञ्च सत् का शरीर है। इस प्रकार उभयविध सम्बन्ध होने के कारण यह फलित होता है कि यह चेतनाचेतन प्रपञ्च ब्रह्मात्मक है। सत् ब्रह्म इस प्रपञ्च का आत्मा है तथा यह प्रपञ्च उसका शरीर है। इस प्रकार इस चेतनाचेतन प्रपञ्च और ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध होने के कारण यह फलित होता है कि यह चेतनाचेतन प्रपञ्च ब्रह्मात्मक है। सत् ब्रह्म इस प्रपञ्च

का आत्मा है तथा यह प्रपञ्च उसका शरीर है। इस प्रकार इस चेतनाचेतन प्रपञ्च और ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध होने के कारण यह फलित होता है कि 'त्वम्' अर्थात् तुम इस शब्द का वाच्यार्थ वह ब्रह्म ही है जो समक्ष अवस्थित जीव का अन्तर्यामी है। यह पूर्व ही बतलाया गया है कि शरीरवाचक शब्द उस शरीर के अन्दर रहने वाले आत्मा तक का बोध कराता है। जीव ब्रह्म का शरीर है ब्रह्म जीव का आत्मा है, इसलिए जीववाचक 'त्वम्' इत्यादि शब्दों से जीवान्तरात्मा ब्रह्म का बोध होना उचित है। अत एव आगे श्रुति बतलाती है कि तत् त्वमसि–तुम अर्थात् समक्ष अवस्थित जीव का अन्तरात्मा वह जगत्कारण सद् ब्रह्म ही है। ***'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'*** कहकर सम्पूर्ण जगत् का जो ब्रह्मात्मकत्व कहा गया है, सामान्यरूप से कही गई उस बात का अर्थात् ब्रह्मात्मकत्व का जीवविशेष में अर्थात् समक्ष अवस्थित जीव में उपसंहार ''तत्त्वमसि'' वाक्य से किया गया है। यह तत्त्वमसि वाक्य नये किसी अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये प्रवृत्त नहीं है, किन्तु ***'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'*** इस वाक्य से सामान्यरूप से जो अर्थ कहा गया है, उसको विशेषरूप से जीव विशेष में दुहराता है।

●

शैतान का सहयोग

निमय के साथ भजन कर लेने में उतना लाभ नहीं है जितना कि मन की कमजोरियों पर पश्चाताप करने में है। ऐसा कहने से मन का अभिमान टूट जाता है।

एक भक्त का नियम था कि वह तीन बजे सुबह उठकर भगवान के भजन में लग जाता। एक बार वह वेसुध होकर सो गया तो सपने में देखा कि शैतान ने आकर उसे यह कहकर जगा दिया कि भजन का समय आ गया अब उठ जा। इस भक्त को बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि शौतन का काम तो भजन में विघ्न डालना है न कि उसमें सहायता करना। अन्त में वह अपने गुरु के पास गया और उनसे प्रश्न किया तब गुरु ने समझाते हुए कहा कि 'शैतान ने तेरे ऊपर बड़ा करारा प्रहार किया है; क्योंकि यदि तू उस दिन सोता रह जाता और भजन न करता तो कई दिन तक तू बहुत पछताता, जिससे मामूली तौर पर भजन करने की अपेक्षा सौ गुणा लाभ होता। अत: शैतान ने वह भारी लाभ नहीं होने दिया।'

एक महात्मा का कथन है कि पश्चाताप छ: बातों से पूर्ण होता है—

(१) पिछले पापों पर लज्जित होना।

(२) फिर न पाप करने का प्रण करना।

(३) भगवान की जो सेवा छूट गई हो उसे पूरा करना।

(४) अपने द्वारा किसी की जो हानि हुई हो, उसका घाटा चुकाना।

(५) हराम के खाने से रूधिर और चर्बी बढ़ी हो, उसे घुलाना।

(६) पाप से शरीर ने जितना सुख उठाया हो, भगवान की सेवा में लगाकर उतना ही कष्ट देना।

●

धर्म के प्रतिमूर्ति गो की सेवा करे

प्रजापति ब्रह्मा की सृष्टि में गौ एक आदर्श प्राणी है। शास्त्रों एवं पुराणों के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष–इन चारों पदार्थों को प्रदान करने वाली एकमात्र गाय ही है। विश्व में कलियुग के प्रभाव से प्राय: सभी वस्तुओं का प्रभाव लुप्त-सा होता जा रहा है, परन्तु गौ माता एवं गो सेवा का प्रभाव वर्तमान समय में भी लुप्त नहीं हो सका है। यदि भक्तिपूर्वक गो सेवा की जाय तो वह अपने भक्त की सभी इच्छाएँ पूर्ण करने में सक्षम है। वेदों में मानव के लिए यज्ञानुष्ठान बताया गया है। देववृन्द को आहुतियाँ प्राप्त होती हैं अग्निरूपी मुख से– ***'अग्निमुखा हि देवा भवन्ति'*** एवं देवगण को अर्पित करने योग्य हवि प्राप्त होता है गाय से। इसीलिये गाय को हवि को देने वाली हविर्दुधा कहा गया है।

यज्ञवेदी को पवित्र तथा स्वच्छ करने के लिए गोबर की आवश्यकता होती है पवित्र यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करने हेतु गोबर के उपले (कंडे) अपेक्षित होते हैं। यज्ञ में जौ, चावल, तिल इत्यादि जिस हविष्य अन्न की आवश्यकता होती है, उसे उत्पन्न करने के लिए बैल (गौ की संतान) की जरुरत पड़ती है। यज्ञ में पञ्चगव्य का महत्त्व सर्वविदित ही है।

आध्यात्मिक दृष्टि से गाय का महत्त्व वर्णनातीत है। प्रजापति ब्रह्मा, जगत्-पालक विष्णु एवं देवाधिदेव महादेव द्वारा भी गाय की स्तुति की गयी है–हे पापरहिते! तुम सभी देवताओं की जननी हो। तुम यज्ञ की कारणरूपा हो तुम समस्त तीर्थों की महातीर्थ हो, तुमको सदैव नमस्कार है, यथा–

त्वं मातां सर्वदेवानां त्वं च यज्ञस्य कारणम्।
त्वं तीर्थं सर्वतीर्थानां नमस्तेऽस्तु सदानघे।।

वेद ने तो गाय के रूप को अखिल ब्रह्माण्ड का रूप बतलाया है— ***'एतद वै विश्वरुपं सर्वरूपं गोरूपम्'।*** गाय के विश्वरूप का उल्लेख ब्रह्माण्डपुराण, महाभारत, पद्मपुराण, अथर्ववेद, भविष्यपुराण तथा स्कन्दपुराण आदि में मिलता है। अर्थववेद के अनुसार गाय के रोम-रोम में देवताओं का निवास है।

श्रीभद्भगवद्गीता में आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य-स्वरूपों का वर्णन करते हुए 'धेनूनामस्मि कामधुक्' कहा है। महाभारत के अनुसार यज्ञ के फलों का कारण गाय ही है तथा गाय में ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है यथा—

गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः।

गो सेवा से श्रेष्ठतम महान् फल की प्राप्ति होती है। कुलगुरु-वसिष्ठ द्वारा महाराज दिलीप को सुरभिनन्दिनी की भक्तियुक्त सेवा का आदेश हुआ। गो सेवा के परिणाम स्वरूप ही राजा दिलीप को पुत्र रघु हुए। महाराज ऋतम्भर ने मुनि जाबालिके आदेशानुसार भक्ति-भावना से गो सेवा की, परिणाम स्वरूप सत्यवान् नामक पुत्र की प्राप्ति हुई।

गोबर-गोमूत्र की खाद (उर्वरक) से प्रचुर मात्रा में अन्नरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। गो-सेवा से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है–

गवां सेवा तु कर्तव्या गृहस्थैः पुण्यलिप्सुभिः।
गवां सेवापरो यस्तु तस्य श्रीर्वर्धतेऽचिरात्।।

स्वप्न-विज्ञान के अनुसार यदि यात्रा के प्रारम्भ में गाय सामने पड़ जाय अथवा अपने बच्चे को दूध पिलाती हुई गाय सामने आ जाय या दिखायी पड़ जाय तो यात्रा सफल होती है। गो सेवा से व्यायाम भी होता है, जो स्वास्थ्य के लिए लाभ-दायक है। गृहविज्ञान के अनुसार गोबर स्वच्छता एवं पवित्रता प्रदान करने वाला है। ग्रामवासी वर्तमान समय में भी अपने आवास को गोबर से लीपकर

पवित्र करते हैं।

ऋषिकुलों एवं गुरुकुलों में ब्रह्मचारियों को गुरु-सेवा के साथ-साथ गो सेवा भी अनिवार्य करनी होती थी। प्रत्येक कुल (आश्रम) की अपनी गायें हुआ करती थी, उनकी सेवा विद्यार्थियों को अनिवार्य-रूप से करनी होती थीं। परिणामस्वरूप वे आभीर कर्म (डेयरी फार्मिंग) में प्रवीण हो जाते थे।

गो-सेवक एवं गोभक्त जन आज भी परलोक साधन के लिये प्रतिदिन नियमित रूप से दोनों समय (सुबह एवं शाम) गोग्रास देने के उपरान्त ही भोजन ग्रहण करते हैं।

गोग्रास का फल यह होता है कि मरणोपरान्त जीव को दूसरे लोक में जाते समय मार्ग में यमदूतों द्वारा होने वाले आक्रमण से गायें जीवों की रक्षा करती हैं, इसलिये गायों को गोग्रास देना चाहिये। प्रात: काल उठकर गौ माता को प्रणाम करना चाहिये। इससे अन्नपूर्णा भगवती प्रसन्न होती हैं। तथा धन-धान्य-सम्पदा प्राप्त होती है। गोग्रास देने से गृहस्थाश्रमी जन आन्तरिक सुख का अनुभव करते हैं। पवित्रता से बनाया हुआ भोजन ग्रोग्रास के लिए उत्तम होता है। गोग्रास का मन्त्र निम्न प्रकार है—

सौरभेम्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः।
प्रतिगृहणन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः।।

आधुनिक कृषि-यन्त्रों की अपेक्षा गौ की संतान अर्थात् बैल कृषि-कार्य के लिए अत्यधिक लाभदायक है। कृषि-कार्य की दृष्टि से खेत जोतना एवं खाद देना ये दोनों ही महत्त्व रखते हैं। यन्त्र से खाद नहीं प्राप्त की जा सकती, खेत जोते जा सकते हैं। आधुनिक कृषि विज्ञान द्वारा प्रस्तुत रासायनिक उर्वरक (खाद) की अपेक्षा गाय एवं बैल के गोबर की खाद उत्कृष्ट है। रासायनिक उर्वरकों की तुलना में गाय तथा बैल की खाद से जो अन्नोत्पादन होता है, वह अधिक सुस्वादु एवं पौष्टिक होता है। कृषि अर्थशास्त्र के अनुसार कृषि-कार्य में कोई भी कृषि-योग्य भूमि ट्रैक्टरों से जोतने योग्य नहीं है।

आधुनिक कृषि-यन्त्रों से सर्वाधिक क्षति यह होगी कि कृषि-कार्य में मशीनयुग के दोषों का प्रवेश हो जाएगा और भारतीय कृषक भी उन दोषों से प्रभावति हो जाऐंगे। बहुत से मजदूरों एवं कृषकों को बेकारी की समस्या का सामना करना पड़ेगा।

गाय के दूध में जो पोषक तत्त्व पाये जाते हैं, वे किसी अन्य (भैंस या बकरी) के दूध में सुलभ नहीं होते। माँ के दूध के पश्चात् गो-दुग्ध का ही स्थान है। आयुर्वेद में गोदुग्ध, गो दधि एवं गो नवनीत को बालक, युवा, वृद्ध तथा रोगी-सभी के लिए कल्याणकारी और अमृत के सदृश उपयोगी कहा गया है–

जरासमस्तरोगाणां शान्तिकृत् सेविनां सदा।
तद्धितं बालके वृद्धे विशेषादमृतं शिशोः।।

गाय को माता का स्थान प्रदान किया गया है। गाय के अतिरिक्त किसी भी पालतू जानवर को 'माता' नहीं कहा जाता। गाय को माता इसलिए कहा जाता है कि यह जीवित रहने पर तो सभी प्रकार से उपकारिणी है ही, मरणोपरान्त भी गाय की हड्डी, चमड़ा, खुर, सींग इत्यादि उपयोगी होते हैं। गौ माता अपनी सभी संतानों का समान रूप से हित करती है। हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई–किसी भी जाति या सम्प्रदाय का व्यक्ति क्यों न हो, गोदुग्ध एवं अन्य वस्तुएँ समान रूप से तथा बिना किसी भेद भाव के उन्हें सुलभ होती हैं। अस्तु, गाय हमारे देश की एक अमूल्य सम्पत्ति है।

हमारे प्राचीन ग्रन्थ गोमहिमा से भरे हुए हैं। अग्नि, भविष्य, मत्स्य, पद्म इत्यादि पुराणों में गायों की चिकित्सा, गोदुग्धादि की विशेषताएँ,

पञ्चगव्य से लाभादि स्थान-स्थान पर वर्णित है। 'धनं च गोधनं धान्यं स्वर्णादयो वृथैव हि', हमारे अर्थशास्त्र का यही मूलाधार रहा है। अमेरिका के होर्ड्स डेयरी मैन नामक पत्र के सम्पादक की निम्नाङ्कित पंक्तियों से गाय की चिरन्तन ज्योति की महिमा परिलक्षित होती है।गाय हमारे दुग्ध जगत् की देवी है। वह भूखों को खिलाती है, नग्नों को पहनाती है एवं मरीजों को उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करती है। उसकी ज्योति चिरन्तन है।

परन्तु यह एक महान दुर्भाग्य की बात है कि आर्यावर्त की इस पावन धरती पर पूर्णरूपेण गोवध-निषेध नहीं हो सका। हमारे सनातन धर्म, दर्शन, सम्प्रदाय आदि सभी ने उच्चस्वर से गो-वधका विरोध किया। हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि किसी ने भी गोवधका समर्थन नहीं किया। प्रत्येक दृष्टि से गो वध पर शत-प्रतिशत नियन्त्रण अनिवार्य है। गो-वध भारत के लिए महान् अपराध, महान् पाप एवं महाकलंक है। गोवध से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की छवि धूमिल होती है।

भगवान श्रीकृष्ण का नाम गोपाल है। गायों की सेवा करना एवं वन-वन भ्रमण कर गायों को चराना उनकी दिनचर्या का मुख्य कार्य रहा है।

भारतवर्ष के उज्जवल भविष्य का पुननिर्माण गो सेवा, गोवंश की रक्षा एवं गो-माता के आशीर्वाद पर ही आधारित है।

●

श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी की जीवन का कुछ अंश

तमिलनाडु में चेन्नै से दक्षिण पश्चिम दिशा में कांचीपुरी के रास्ते में करीब मध्य में चेन्नै से ३५ किमी० पर श्री पेरम्बुदूर स्थान है। यहाँ श्रीकेशवाचार्य एवं श्रीमतीकान्तिमता देवी धार्मिक दम्पति का निवास था। दम्पति ने संतान में विलम्ब होते देख चेन्नै के ट्रिप्लीकेन या तिरूपत्लीकेणी के पार्थसारथी भगवान की पूजा अर्चना की और फलस्वरूप १०१७ ई० के चैत महीने में आर्द्रा नक्षत्र में कर्क लग्न में गुरुवार के दिन श्रीरामनुज का जन्म हुआ। बचपन से ही ये कुशाग्र बुद्धि के थे। १०२४ ई० में इनका उपनयन संस्कार हुआ तथा १०२५ ई० में इनके बड़ी वहन भूमि देवी का विवाह सम्पन्न हुआ। १०२८ ई० में बड़ी वहन के पुत्र 'मुदली आन्डान' यानी दाशरथी का जन्म हुआ। १०२८ ई० में ही इनकी छोटी वहन कमला का विवाह हुआ। सोलह वर्ष की अवस्था में यानी ई० सन् १०३३ में रक्षाम्बा या तंजम्माल से इनका विवाह करने के बाद १०३५ ई० में इनके पिता का देहावसान हो गया। श्रीरामानुज अपनी माँ के साथ कांचीपुरम आकर रहने लगे।

गुरु यादवप्रकाश—कांचीपुरम में श्रीरामनुज ने पंडित यादवप्रकाश से १०३५ ई० से अपनी आगे की शिक्षा का शुभारम्भ किया, एक दिन यादवप्रकाश ने छान्दोग्य उपनिषद् के एक मन्त्र ***'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी'*** के 'कप्यासं' शब्द का अर्थ बन्दर का अधोभाग करते हुए बताया कि स्वर्णिम पुरुष नारायण के कमल के समान नेत्र बन्दर के अधोभाग जैसे लाल हैं। श्रीरामानुज नारायण के सौन्दर्य वर्णन में इस तरह का अमर्यादित तुलना सुनकर रो पड़े। यादवप्रकाश ने जब इन्हें इसका अर्थ करने को कहा तो इन्होंने बताया ***'कं जलं पिबतीति कपिः सूर्यः'*** और अस् धातु का अर्थ विकसित करने को बताया यानी सूर्यकिरणों से प्रस्फुटित कमल के समान लाल हैं स्वर्णिम पुरुष नारायण के दोनों नेत्र। यादव प्रकाश को श्रीरामानुज की बुद्धि कुशाग्रता से ईर्ष्या होने लगी। वह इनका

वध कर देने का षड्यन्त्र करने लगे। विद्यार्थियों के दल में श्रीरामानुज को साथ लेकर १०३८ ई० में काशी की यात्रा पर मकर स्नान के लिए निकल पड़े। रास्ते में सुनसान जंगल में श्रीरामानुज की हत्या की योजना बनने लगी। श्रीरामानुज के मौसेरे भाई गोविन्द भी विद्यार्थियों के दल में थे। गोविन्द ने श्रीरामानुज को सचेत कर दिया और श्रीरामानुज दल छोड़कर पृथक् हो गए। बहुत खोजने पर भी जब श्रीरामानुज नहीं मिले तो यादव प्रकाश ने समझा कि किसी हिंसक जन्तु ने श्रीरामानुज का अन्त कर दिया। रास्ते के घनघोर जंगल में श्री वरदराज भगवान व्याधदम्पति के रूप में श्रीरामानुज का मार्गदर्शन करते हुए कांचीपुरम के पास सालकूप तक ले आये और यहाँ श्रीरामानुज के हाथ से जल पीकर अर्न्तध्यान हो गये।

जब यादवप्रकाश यात्रा से लौटे तो श्रीरामानुज को देखकर दिखावटी प्रेम दिखाते हुए पुन: श्रीरामानुज को अपने पाठशाला में बुलाये। श्रीरामानुज उनके पास शिक्षा के लिये १०४१ ई० तक रहे। इसी बीच श्रीरंगम् के वयोवृद्ध श्रीयामुनाचार्य वरदराज भगवान के दर्शन के लिये कांचीपुरम् १०३९ ई० के वैशाख में आये थे। श्रीरामानुज को दूर से देखकर वे इनके प्रति आकर्षित हुए और यह जानकर बहुत प्रसन्न हुए कि इसी नवयुवक ने ***'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'*** की भक्तिपूर्ण व्याख्या लिखी है।

●

गुरु-पूर्णिमा

आध्यात्मिक ज्ञान ही मनुष्य को महान् बनाता है। ज्ञान के विना मानव पशु या दानव बन जाता है। तत्त्व का यथार्थ ज्ञान वेदान्त दर्शन से प्राप्त होता है। ब्रह्मा को नारायण से वैदिक-ज्ञान प्राप्त हुआ था। ह्यग्रीव नामक दानव ने वेदों को चुरा लिया था। भगवान् ने मत्स्यरूप धारणकर उनका उद्धार किया। उसी के आधार पर ब्रह्मा ने सृष्टि का विस्तार किया है। काल के प्रभाव से ज्ञान का अभाव होने लगा। उसके निवारण के लिए भगवान् विष्णु ने व्यासरूप में अवतार लिया है। द्वापर में आषाढ़ पूर्णिमा को श्रीपराशर के द्वारा सत्यवती के गर्भ से श्रीव्यास जी का प्रादुर्भाव हुआ था। उन्होंने वेद का विस्तार किया। एक वेद को ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद के रूप में विभाजित किया। तदनन्तर उन्होंने एक लक्ष श्लोक से परिपूर्ण महाभारत की रचना की और चार लाख श्लोकों से पूर्ण अठारह पुराणों का निर्माण किया। प्रस्थानत्रयी के अन्दर प्राप्त ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन भी उन्होंने ही किया है। ***'इतिहासपुराणाञ्च पञ्चमो वेद उच्यते'*** के अनुसार वेदव्यास निर्मित महाभारत और पुराण को पञ्चम वेद के रूप में स्वीकार किया जाता है। व्यास जी ने इन शास्त्रों के द्वारा विश्व में ज्ञान ज्योति को जलाकर अज्ञानान्धकार को दूर हटाया। जगत् में किसी को कुछ भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ है या हो रहा है वह वेदव्यास जी की ही देन है। जगत् में यथार्थ ज्ञान देने वाले गुरु श्रीव्यास जी ही हैं। अत एव उनकी जन्मतिथि को गुरुपूर्णिमा कहते हैं। आषाढ़ शुक्लपूर्णिमा को वेदव्यास जी की विशेष पूजा होती है। आज विश्व में आध्यात्मिक ज्ञान के सदुपदेश देने वाले समस्त सन्तों की भी गुरुपूर्णिमा को शिष्यगण पूजा करते हैं। आध्यात्मिक सदुपदेश के द्वारा शिष्यों को भगवान के चरणों में प्रीति उत्पन्न कराने वाले गुरु होते हैं। वे गुरुजन आचार्य कहे जाते हैं। आचार्यों द्वारा भगवान के दिव्यगुणों एवम् उनकी विभूतियों को सुनने एवं समझने पर भगवान के चरणों में प्रेम होता है।

भगवान् और आचार्य में आठ प्रकार की समानता होती है—

(१) अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले भगवान् हैं, वे भक्तों के ऊपर कृपाकर उनके चित्तवृत्ति में स्थित होकर ज्ञानरूपी दीप के द्वारा विषयाशक्तिरूपी तम को दूर करते हैं। वैसे ही सद्गुरु अपने सदुपदेश द्वारा शिष्यों के अज्ञान को नष्ट करता है। अत: श्रीभगवान् और सद्गुरु ये दोनों अज्ञानान्धकार के नाशक हैं। इसलिये दोनों में समता है।

(२) भगवान् पापों को नष्ट करने वाले हैं। दुष्टचित्त वाले दुर्जनों के द्वारा भी स्मरण किये जाने पर भगवान् उनके पापों को हर लेते हैं। वैसे ही आचार्य भी शिष्यों के पाप को नष्टकर देते हैं। वे अपने सदुपदेश द्वारा शिष्यों को आगे होने वाले पापाचरण से विरक्त कर देते हैं। अत: पापनाशकत्व भगवान् और आचार्य में समान है।

(३) भगवान् अपने आश्रित जीवों के ऊपर कृपा करके उनको अपने समान पद देते हैं। मोक्ष की स्थिति में पहुँचने पर जीवात्मा और भगवान् में समानता हो जाती है। ***'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'*** भगवान् जितना आनन्दानुभव करते हैं, मुक्त जीव भी उतना ही आनन्दानुभव करता है। उसी प्रकार आचार्य भी अपने शिष्यों को ज्ञान, वैराग्य, भगवद्भक्ति और भगवद्कृपा की प्राप्ति में अपने समान बना देता है।

(४) जीवों को जो मोक्ष मिलता है वह भी जीवों का एक प्रकार से जन्म ही है। उससे जीव के स्वरूप का पूर्ण विकास होता है। सांसारिक जन्म और मोक्षरूप जन्म में यह अन्तर है कि मोक्षरूपी जन्म सांसारिक जन्मों को नष्टकर देता है। मोक्षरूपी जन्म प्रदान करने वाले श्रीभगवान् हैं, वैसे ही आचार्य भी सांसारिक जन्मों को नष्ट करने वाले विद्याजन्म को प्रदान करते हैं। इससे भी भगवान् और आचार्य में समानता सिद्ध होती है।

(५) भगवान् की दिव्यदृष्टि का ही प्रभाव है जिससे मनुष्य सात्त्विक मोक्ष का अधिकारी होता है, उसी प्रकार आचार्य की दिव्यदृष्टि का प्रभाव है। आचार्य की कृपा दृष्टि होने पर मानव मोक्ष प्राप्त करता है। अत: भगवान् और आचार्य वे दोनों अपने दिव्यदृष्टि के प्रभाव से जीव को कल्याण प्रदान करने के कारण समान हैं। श्रीभगवान् ने अर्जुन को दिव्यदृष्टि दी है और आचार्य श्रीवेदव्यास जी ने सञ्जय को दिव्यदृष्टि एवं दिव्यश्रोत प्रदान किया है।

(६) भगवान् की कृपा किसी भी विघ्न से बाधित नहीं होती है। उनकी कृपा जीवों पर सदा प्रवाहित होती रहती है। वैसे ही आचार्य कृपा भी किसी विघ्न से बाधित न होकर सदा शिष्यों पर प्रवाहित होती रहती है। कृपा करने के विषय में आचार्य और भगवान् दोनों समान हैं।

(७) भगवान् आनन्दमय होने से सर्वदेश, सर्वकाल एवं सभी अवस्थाओं में रस रूप में रहते हैं। अत एव भगवान् भक्तों को अत्यन्त भोग प्रतीत होते हैं। वैसे ही आचार्य भी अपने शिष्यों की सेवा से अपार आनन्द का अनुभव करता है। इसलिए भोक्ता के विषय में भगवान और आचार्य दोनों समान हैं।

(८) जीवों के प्रति भगवान् शेषी (स्वामी) हैं। भगवान् का स्वामीत्व सदा बना रहता है। वह कभी हटने वाला नहीं है। वैसे ही आचार्य भी शिष्यों के प्रति शेषी (स्वामी) हैं। उनका स्वामीत्व कभी भी नहीं मिटता। वैकुण्ठ में पहुँचने पर भी आचार्य, आचार्यरूप में ही रहते हैं और शिष्य, शिष्यरूप में रहते हैं। अत: स्वामीत्व की दृष्टि से भगवान् और आचार्य दोनों समान हैं।

व्यास-पूर्णिमा

भगवान् कृष्णद्वैपायन ही वेदाचार्य हैं तथा आप्तों में श्रेष्ठ हैं। वे भगवान् नारायण के अवतार हैं। उनमें सीमातीत ज्ञान, ऐश्वर्य आदि कल्याणकारी गुण है। उनमें प्रवञ्चना आदि किसी भी दोष की सम्भावना नहीं की जा सकती है। कलि के मनुष्य मन्दाधिकारी बन गये हैं। उन मनुष्यों पर कृपा करने के लिए कृष्णद्वैपायन ने वेदों का विभाजन किया। वेद तत्त्व तथा अनुष्ठान का भी प्रतिपादन किया है। दुरूह वेदार्थों के तत्त्वों के अनुष्ठान के विषय में सम्भाव्य अज्ञान संशय तथा विपर्यय को दूर करने के लिए महर्षि बादरायण ने महाभारत का प्रणयन किया। अपने वचन से क्षत्रिय विश्वामित्र को जिन्होंने ब्राह्मण बनाया, उन वसिष्ठ जी के नप्ता (नाती = पौत्र) हैं वेदव्यास जी।

महर्षि बादरायण महर्षि पराशर के पुत्र हैं। श्रीपराशर जी वसिष्ठ जी तथा पुलस्त्य जी वरदान प्राप्त करके देवता और पारमार्थ्य को जान लिये थे, उन्होंने (पुराण संहिता) विष्णुपुराण का प्रणयन किया। श्रेष्ठ विषयों के जानकार होने के कारण महर्षि पराशर अन्य पुराणों में भी प्रख्यात हैं। व्यास जी उन्हीं के पुत्र हैं। श्रीव्यास जी विशिष्ट तपस्या को पूर्ण करने वाले तथा विशिष्ट समाधि लगाने वाले थे, अत एव सम्पूर्ण परमर्षि समुदाय उनका समादर करता था। आषाढ़ पूर्णिमा को श्रीवेदव्यास जी के अविर्भाव तिथि के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसी तिथि को वे सत्यवती के गर्भ से प्रकट हुये थे। आषाढ़ पूर्णिमा को गुरु पूर्णिमा के नाम से जाना जाता है। श्रीव्यास जी ने मानव समाज के लिए जितनी बौद्धिक सम्पत्ति समर्पित की है शायद ही इस सप्तद्वीपा वसुमती पर किसी अन्य ने समर्पित की हो।

'एकाक्षरं गुरुज्ञेयम्' के अनुसार एक अक्षर पढ़ाने वाला या एक अक्षर का ज्ञान कराने वाला गुरु व विरुद से विभूषित किया जाता है, इस परिप्रेक्ष्य में उन्होंने समस्त भारत को भा-रत किया, ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित किया, उनकी जन्मतिथि को गुरु-पूर्णिमा के रूप में सम्मान देना हम सभी भारतीयों का परम कर्तव्य है। श्रीव्यास जी की साधना ही भारतवर्ष की आत्मा है। ***'यन्न भारते तन्न भारते'***–इस उक्ति में भारत शब्द से यहाँ महाभारत ग्रन्थ तथा राष्ट्र दोनों गृहीत है। जो महाभारत में नहीं वह किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं या जो भारत राष्ट्र में नहीं वह विश्व में कहीं नहीं।जिस अमितौजा व्यास का ऐसा दृढ़, पावन, स्वाभाविक, स्वाभिमान युक्त उद्घोष है, वस्तुत: वे समग्र जगत् के गुरु, आचार्य होने की दक्षता एवं क्षमता अपने आप में रखते हैं।

ऐसे पुण्य श्लोक के आविर्भाव तिथि पर हम उन्हें नमन् करते हैं—

जयतु भारतम् * जयतु संस्कृतम् ।

पराङ्कुशाचार्य संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज द्वारा श्रीस्वामी रङ्गरामानुजाचार्य जी महाराज के निर्देशन में परमहंस स्वामी राजेन्द्रसूरि सेवा संस्थान जगन्नाथपुरी का भारत सरकार के आयकर विभाग द्वारा ८०जी. में निबन्धन कार्य पूर्ण हो गया है । अब उपर्युक्त संस्था में दान दाता को आयकर की छूट नियमानुसार प्राप्त होगी ।